श्री भागवत-दर्शन :-

भागवती कथा

(अट्ठावनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण] चैत्र सम्वत् २०११ वि० [मूल्य १।)

मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ।

विषय सूची

अ० संख्या	विषय	पृष्ठ सं०
१३२०	—सारातिसार उपदेश ...	१
१३२१	—संसार की असारता ...	१०
१३२२	—साधनावस्था से सिद्धावस्था ...	२३
१३२३	—योग साधन के विघ्न और उनके उपाय .	३९
१३२४	—उद्धवजी का भक्ति सम्बन्धी पुनः प्रश्न ..	४९
१३२५	—भागवत धर्म निरूपण ...	५६
१३२६	—उद्धवगीता का उपसंहार ..	६६
१३२७	—उद्धवजी की विदाई ...	७५
१३२८	—यदुवंश-विनाश की प्रस्तावना ..	८४
१३२९	—यदुवंश-विनाश ...	९१
१३३०	—भगवान् के स्वधाम पधारने का निमित्त ...	१०१
१३३१	—व्याध को सद्गति ...	११०
१३३२	—दारुक और भगवान् वासुदेव ...	११८
१३३३	—श्यामसुन्दर का स्वधाम गमन ...	१२३
१३३४	—यदुवंश विनाश का उपसंहार ..	१३१
१३३५	—कलियुग के राजाओं का वर्णन ...	१४१
१३३६	—शिशुनाग आदि राजागण ..	१६५
१३३७	—नन्द वंश विनाश ...	१७२
१३३८	—चन्द्रगुप्त मौर्य ..	१८०
१३३९	—वारिसार अशोक तथा अन्यान्य मौर्यवंशीय नृपतिगण	१९३
१३४०	—शुङ्ग कण्व तथा आन्ध्र जातीय नृपतिगण ..	१९८
१३४१	—आभीर तथा गर्दभी वंश ...	२०६

॥ श्री हरि: ॥

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
नमो ब्रह्म सुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥

छप्पय

गैया मैया! छिमा करो हम अति अपराधी।
सुत कहायँ परि नहीं साधना तव हित शाधी॥
सूखे तृन मुख खाइ दूध, दधि, घृत नित देवौ।
बछरा बछिया देउ न बदले में कछु लेवौ॥
फिर हू कटवावें तुम्हें, कैसे हम सुख पाइंगे।
माँ! चाहे मरि जाइंगे, अब न तुम्हें कटवाइंगे॥

भारतवासियों को विशेषकर आर्य सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिन्दुओं को गौरक्षा का महत्व समझाया जाय, इससे बढ़कर आश्चर्य, दुःख और हँसी की कौन सी बात होगी। गौ भक्ति हमारी नस-नस में भर दी गयी है। गीता, गंगा, गायत्री, गोविंद और गौयें हिन्दुओं के पंच-सर्वमान्य गकार हैं। उनमें से भले ही बहुत से हिन्दू गीता को भगवद्-वाक्य न मानते हों। भले ही बहुत से गायत्री मन्त्र की उपेक्षा करते हैं, ऐसे भी कुछ लोग हिन्दू-समाज में मिल सकते हैं, जिन्हें गंगाजी की पावनता में सन्देह हो। साकार गोविन्द के स्थान निराकार के उपासक तथा अनीश्वर नास्तिक भी मिल सकेंगे। इन विषयों में हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद भले ही हो, किन्तु गौ के सम्बंध में सभी एक मत हैं, गौ को सभी पूजनीया तथा अवध्या मानते हैं। फिर चाहे वे सनातनी हिन्दू हों अथवा आर्य समाजी, जैनी,

सिक्ख, बौद्ध या अन्यान्य सम्प्रदाया के। गौ सबकी दृष्टि में अवध्या है। ब्रह्मा के बौद्ध-भिक्षुओं ने आन्दोलन करके वहाँ से गो-वध बन्द करा दिया। गौ का एक ऐसा प्रश्न है, जिनमें किसी भी पन्थ, सम्प्रदाय या दल से हिन्दू को मतभेद नहीं। यह एक सर्वमान्य प्रश्न है, गौ-वध-बन्दी के प्रश्न पर हिन्दू मात्र एकमत हैं। आज नहीं बल्कि अनादि काल से गौ को हम माता के सदृश मानते आये हैं। उसे हमने पशु न मानकर अपने परिवार में ही सम्मिलित कर लिया है।

हमारे यहाँ एकादश रुद्र, अष्टवसु और द्वादश आदित्य ये प्रधान देवता माने गये हैं। समस्त सृष्टि के मूलभूत ये ही हैं। महर्षियों से ही, मनुष्य, देवता, पितर, पशु, पक्षी, लता आदि की उत्पत्ति है। इन देवताओं से गौ का क्या सम्बन्ध है। वेद में बताया है। गौ रुद्रों की तो माता है, वसुओं की पुत्री है और आदित्योंकी बहिन। ❀ गौ को वेदोंमें सर्वत्र अघ्न्या बताया है। ❀ इसका अर्थ है, गौ किसी भी दशा में वध न की जाय। वेद-मन्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है, गौ का वध मत करो।

कुछ लोग कहते हैं, वैदिक काल में यज्ञों में गौ-मेध होता था, सम्भव है, कुछ आसुरी प्रकृति के लोग करने लगे हों, किन्तु वैदिक मन्त्रों में सूत्र ग्रन्थों में इसका कड़ा विरोध किया गया है। गौ के शरीर में तैंतीस कोटि देवताओं का निवास बताया है। गौ के वध से तैंतीस कोटि देवताओं का वध बताया है। पुराणों

❀ माता रुद्राणां दुहिता वसूना स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोच चिकितुषे जनाय मा गामना गामदितिं वधिष्ट॥
(अथर्ववेद)

❀ अघ्न्या यजमानस्य पशून् पाहि (यजुर्वेद)

❀ गोषु प्रतिमा न विद्यते।

में गौ की महिमा से आख्यायिकाएँ भरी पड़ी हैं। एक ऋषि जब मछलियों के जाल में आ गये और ऋषियों की आज्ञा से राजा नहुष के पास उन्हें बेचने ले गये, तो राजा ने अपना सर्वस्व राज-पाट देना स्वीकार किया, तो भी मुनि ने उसे अपना मूल्य नहीं माना। जब एक गौ उनके बदले में देनी चाही, तब मुनि सन्तुष्ट हुए और कहा—हाँ, हाँ, यह मेरा यथार्थ मूल्य है। इसी प्रकार कृष्ण-पत्नी रुक्मिणीजी ने एक बार भी कृष्ण भगवानका तुला-दान करना चाहा, तो पलड़े पर सहस्रों मन मणि-मुक्ता, स्वर्ण आदि चढ़ा दिये; किन्तु श्रीकृष्ण का पलड़ा भूमि से उठा ही नहीं, किन्तु जब नारदजी के उपदेश से उन्होंने एक पलडे में गौ रख दी तब श्रीकृष्ण का पलड़ा ऊँचा उठ गया। इससे यही सिद्ध किया कि गौ भगवान् से बड़ी है। गौ की बराबरी की कोई वस्तु है ही नहीं।

पुराणों में इस सम्बन्ध की अनेकों कथाएँ हैं। महर्षि विश्वामित्र वशिष्ठ का युद्ध गौ को ही लेकर हुआ, परशुराम भगवान् ने एक गौ के अपमान के कारण इक्कीस बार आततायी क्षत्रियों का विनाश किया। जानकर गौ की हिंसा तो महा भारी अपराध माना ही है। अनजान में भी यदि गौ को काट दे, तो उसे भी कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाता था। पुराणों में कथा है—चक्रवर्ती आदि राजा मनु के पुत्र पृषध्र की कथा पुराणों में बडे विस्तार से आती है। पृषध्र को उनके कुल-गुरु वसिष्ठ ने अपनी गौओं की रक्षा का भार सौंपा। आदि राजा चक्रवर्ती का पुत्र हाथ मे धनुष-बाण लेकर सदा गौओं की रक्षा किया करता था। एक दिन रात्रि में गौओं के बीच में सिंह घुस आया। गौओं में जब भगदड मची, तब राजकुमार तुरन्त वहाँ हाथ में खड्ग लेकर पहुँचा। सिंह ने एक गौ को पकड लिया था। आकाश में मेघ छाया हुआ था, भयंकर अन्धकार था। राजकुमार ने सिंह पर प्रहार

किया, दैव-योग से राजा का खड्ग गौ के लग गया। सिंह का तो कान ही कटा, गौका सिर कट गया। सिंह तो भाग गया। पीछे जब राजकुमारने उजाला मेंदेखा, तो देखा गौ मर गयी है। उसने गुरुजी से निवेदन किया, गुरु ने उसे शाप दिया, यह तुमसे—अनजान में ही सही—बड़ा भारी पाप हो गया। इससे तू अधम क्षत्रिय ही रहेगा, शूद्र हो जायगा।*

पहिले क्षत्रियों से कोई बड़ा अपराध हो जाता था, तो उसे क्षत्र-बन्धु अर्थात् अधम क्षत्रिय—कर देते थे, किन्तु अनजान में गौ-हत्या के अपराध पर उसे क्षत्रित्व से गिरा दिया। इसी से आप अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीन काल में गौके प्रति समाज में कितना आदर था और उसके वध करने वालों को कितना भारी दण्ड दिया जाता था। चक्रवर्ती का पुत्र, प्रथम तो उसे गौ की सेवा में लगाया, हवन करते हाथ जले, गौ की रक्षा में भूल से गौ-वध हो गया, अपने कुलाचार्य द्वारा ही उसे कितना भारी दण्ड दिया गया। किन्तु धर्म में बहाना नहीं चल सकता, धर्मका पालन ऐसे ही होता है। उसमें शील-संकोच से काम चलता नहीं। अब तक नैपाल राज्य में गौ-वध करने वाले को आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता है, उसे एक लोहे का गोला सदा कण्ठ में डाले रहना पड़ता है। भारत में जो अभी ५००-६०० राज्य विलीन हुए हैं, सभी में राज्य नियम से गो वध बन्द था। भारतीय शासन में गो-वध हो, इसकी तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। गो-वध तो दूर रहा, यदि मरते समय गौ के गले में रस्सी भी भूल से बँधी रह जाती थी, तो उस आदमी

---

* तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः।
न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वम् कर्मणा भवितामुना॥
(श्री भा० ९ स्क० २ अ० ९ श्लो०)

को अभी तक सामाजिक दण्ड दिया जाता था। हमारे बालकपन में मुँह ढके बहुत से कलंकी आया करते थे। गाँव के बाहर वे चिल्लाते थे—गाँव के बाहर कलंकी खड़ा है कोई भीख डाल जाय। हम बालक लोग दौड़कर जाते, उसे आटा देते, उसके पात्र में पानी देते, वह किसी को अपना मुख भी नहीं दिखाता था, मुख बन्द किये ही सब लेता था। हम पूछते थे तुम्हें कैसे कलंक लगा—तो वह कहता था, खेत पर बछिया को भगा रहा था, उसमें डंडा लग गया, कई दिन बाद मर गयी। पंचों ने मुझे दण्ड दिया ५० गाँवों मे भीख माँगता हुआ गंगा स्नान करे। वह अपनी लाठी में गौ की पूँछ को बाँधे रहता था।

अब भी प्रयाग में कभी-कभी ऐसे कलंकी देखने को मिलते हैं, किन्तु देशी पंचायत परम्परा नष्ट हो जाने से यह प्रथा नष्ट हो गयी। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जान में, अनजान में, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष कैसे भी गौ-वध हो जाय, तो समाज उसे क्षमा नहीं करता था, कड़े-से-कड़ा कठोर दण्ड देता था। अपना घर-द्वार, राज-परिवार भले ही चला जाय, प्राणों की बाजी भले ही लगानी पड़े, किन्तु अपने द्वारा गौ का रक्त भूमि पर न गिरने पावे।

फर्रुखाबाद जिले मे गंगा तट पर शमसाबाद नामक एक गाँव है। जिन दिनों मैं गंगा किनारे-किनारे भ्रमण करता था, उन दिनों मैंने वहाँ एक गंगाजी के तट पर ही फूटा हुआ एक बडा भारी किला देखा, पूछने पर पता चला कि यहाँ पहिले एक क्षत्रिय राजा था, मुसलमान उसे नहीं जीत सके तो हजारों गौओं के झुण्डों को आगे करके वे राजा से लड़ने लगे। क्षत्रिय वीरों ने यह उचित नहीं समझा कि हमारे बाणों से गौओं का एक बूँद भी रक्त भूमि पर गिरे, राजा सुरंग के मार्ग से भाग कर नैपाल चले गये। सुनते हैं उनके वंशधर अब भी नैपाल राज्य में हैं। उन्होंने

राज-पाट, घर-द्वार कुटुम्ब-परिवार को त्यागना तो स्वीकार किया, किन्तु गौओं पर भूल से भी प्रहार करना स्वीकार नहीं किया।

राजपूता में देवी राणसती की एक बडी भारी जात लगती है। उसकी कथा ऐसे बतायी जाती है—एक राजकुमार घोडे पर चढकर कहीं जा रहा था। बीच में पानी पीने को एक तालाब पर उतरा, वहाँ उसने एक गो को खडे देखा। गौ के पैर से एक काला भुजग लपटा हुआ था। क्षत्रिय वार भला अपने सामने गौ क प्राण कैसे जाने दे। राजकुमार पानी पीना तो भूल गया, अब उसे चिन्ता हुई इस गौ को मैं कैसे बचाऊँ। उसने सोचा—मैं खडग मारता हूँ, तो सर्प तो कट जायगा, सम्भव है उसका विष गौ के अग में लग जाय, या मेरे खडग से ही गौ का रक्त भूमि पर गिर जाय, तो मैं गौ का रक्त बहाकर अपने कुल को कलकित नहीं कर सकता। गौ के प्राण बचाना भी आवश्यक है। यहा साचकर उसने धीरे से जाकर वल पूर्वक भुजग का फन पकड कर उसे एक झपट्टा दिया। गौ ता बचकर भाग गयी, किन्तु सप ने राजकुमार को काट लिया और वह वहीं तालाब पर मर कर गिर गया। नगर में हल्ला मच गया।

जब रानी ने सुना मेरे पति ने गौ की रक्षा में अपने प्राण गवाँय हैं, तो उसे सुनकर अपार आनन्द हुआ। उसने सोलह शृगार किये, पालकी में बैठकर पति के शव के समीप आयी। पति के शव को परिक्रमा की, उसे गोद में लेकर हँसते हँसते वह वहीं सती हो गयी। अब तक झुनझुनू राजस्थान में वह सती का चबूतरा बना है, प्रति वर्ष जात लगती है, लाखों आदमो आते हैं।

मुसलमानों ने-गौ माँस खानेके लिये गौ वध आरम्भ किया।

अच्छे सम्पन्न मुसलमान तो अब भी गोमांस नहीं खाते। जो निर्धन हैं या असमर्थ हैं वे ही खाते हैं। पीछे कुछ लोग ईद बकरीद पर गौ का बलिदान करने लगे। वह भी हिन्दुओं को चिढाने के लिये, मुसलमानो के धर्म मे गौ का बलिदान (कुर्बानी) आवश्यक नहीं। यदि मुसलमान धर्म में गौ की कुर्बानी आवश्यक ही होती तो अनेकों कट्टर मुसलमान बादशाह राजाज्ञा निकालकर गो वध बन्द क्यों करते? हुमायूं, अकबर, शेरशाह, बहादुर शाह तथा और भी कई मुसलमान बादशाहो के राज्य मे कानून से सर्वथा गो वध बन्द था। यहाँ तक कि जो औरंगजेब मूर्तियो का विध्वसक समझा जाता था और हिन्दू धर्म का शत्रु, उसके राज्य मे भी खुलकर गोवध नहीं होता था।

मुसलमानों के पश्चात् मराठों का साम्राज्य देश मे हुआ। वह चाहे थोडे ही दिन को हुआ, किन्तु सम्पूर्ण देश में उनका प्रभाव फैल गया। उनके साम्राज्य का तो मुख्य उद्देश्य ही गौओं की रक्षा का था। छत्रपति शिवाजी ने तो बाल्यकाल मे ही बधिक से गो छुडाकर उसका वध कर दिया था। उनके राज्य में कहीं भी गो वध नहीं होता था। इधर पजाब में सिखों का साम्राज्य हुआ। सिक्खो का तो नारा ही गौ माता की रक्षा था। अन्तिम सिक्ख राजा महाराजा रणजीत सिंह के राज्य मे गो हत्यारे को कडा से कडा दण्ड दिया जाता था। यही नहीं वे तो गौ मास खानेवाली फौज को भी अपने प्रदेश में पैर नहीं रखने देते थे। अगरेजों से उन्होंने लिखित प्रतिज्ञा करा ली थी कि उनकी फौजें कभी उनके किसी प्रदेश से निकलें तो वे गौ वध न करें। यही प्रतिज्ञा उन्होंने अपने निकटवर्ती अफगानिस्तान आदि के मुसलमानी बादशाहों से भी करा ली थी। महाराज रणजीत सिंहजी के स्वर्गवासी होने पर उनके पुत्र महाराज दिलीप सिंह हुए तो उन्हें अगरेजों ने अपने चंगुल में कैसे

फँसाया, कैसे उन्हें धर्म भ्रष्ट बनाया, कैसे पंजाब को अँगरेजी राज्य में मिलाया, यह एक बड़ी ही दुखद और षडयन्त्रमयी कहानी है। पीछे अँगरेजों ने किस युक्ति से वहाँ कसाईखाने खुलवाये, कैसे वहाँ माँस की दुकानें बनीं यह एक रोमांचकारी वृत्त है, किन्तु इस पर भी वीर सिक्खों ने स्वेच्छा से वहाँ कसाईखाने नहीं बनने दिये। नामधारी सिक्खों ने इसके लिये कैसे कैसे बलिदान किये यह रोमांचकारी इतिहास है। हँसते हँसते नामधारी सिक्ख गौ रक्षा के लिये अपने आप फाँसी के तख्तों पर लटक गये, तोपों के सामने स्वयं ही उड़ने के लिये आ गये। अंगरेज जब सिक्खों को तोपों से उड़ा रहे थे, तो एक वीर बालक सम्मुख आया और बोला मुझे भी तोप से उड़ाओ।

अँगरेजों ने कहा—तू छोटा है, तोप के मुख के सामने नहीं आ सकता चला जा। यह सुनकर वह बहुत से ईंटें ले आया और उनका एक चबूतरा बनाकर उस पर खड़ा होकर बोला—"लो, अब तो मैं ऊँचा हो गया।" तुरन्त ही गोला छोड़ा गया और वह उड़ा दिया गया। अमृतसर में घण्टा घर के सामने बने नये कसाई खाने को नष्ट करने और गौओं को भगा देने के अपराध में जब निहंगों (अकालियों) को मृत्यु दण्ड दिया गया, तब नामधारी सिक्खों ने अपने सद्गुरु भैणी साहब से कहा कि अकालियों ने नहीं हमने कसाईखाने को विध्वंस किया है।" तब सद्गुरु ने कहा—तुम अपना अपराध स्वीकार करके निरपराध अकालियों को बचाओ। सद्गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके वीर नामधारी सिक्ख गये। अपराध स्वीकार कर लेने पर लाहिड़ा सिंह, फते सिंह, हाकिम सिंह और बीहाला सिंह इन चार को फाँसी—३ को कालापानीका दण्ड हुआ। उनकी फाँसी का वृत्तान्त बड़ा ही रोमांचकारी है, वे ढोलक करताल बजाते कीर्तन करते, सद्गुरु की जय बोलते स्वयं ही फाँसी पर चढ़ने गये। उन्होंने

कहा—हमें तौंत की रस्सी से फाँसी न दी जाय, हम 'स्वयं फाँसी की रस्सी अपने गले में बाँधेंगे। अधिकारियों ने उनकी बात स्वीकार की, वे हँसते-हँसते गौ माता की जय बोलते हुए फाँसी के तख्ते पर चढ़ गय।

हाकम सिंह की माता आई और स्वयं उन चारों के मृत शरीर को ले गयी। अमृतसर के पवित्र जल में स्नान कराके गुरुबानी का गान करते करते हँसते हँसते उसने अपने हृदय के टुकड़े को जलाया। माँ तुम धन्य हो। जननी! पुत्रवती होने का फल तुमने ही पाया। जिसका पुत्र गौ की रक्षा में प्राण उत्सर्ग करे यथार्थ मे माता तो वही है। गौ तो जगत की माता है वसुओं की जननी है। ऐसी गौ की रक्षा के लिये इस भारत में असंख्यों बलिदान हुए हैं असंख्यों होंगे। जीवन की सार्थकता तो इमी में है नहीं तो असंख्यों सूकर कूकर कौए विष्ठा खाकर अनेकों वर्ष जीते रहते हैं गौ माता की रक्षा के लिए जो मरते हैं वे ही वास्तविक जीते हैं। जो गौ को कटते हुए देखकर भी मौन हो जाते हैं, उपेक्षा कर जाते हैं, पैसों के लोभ से भयभीत हो जाते हैं, वे तो जीते हुए भी मरे हैं। आज नामधारी सिक्खों में जो भी कुछ आचार, विचार, उत्साह भाव तथा जीवन है वह उन्हीं गौरक्षक वीरों के बलिदान के ही कारण है।

जब यहाँ विदेशी विधर्मी शासन के कारण गो वध होता ही रहा तो माँस के साथ चमड़े का भी उपयोग होने लगा और उससे लाभ होने लगा। इस प्रकार अँगरेजी राज्य में गोवध एक व्य-वसाय बन गया। विज्ञान ने जहाँ उपयोगी नये नये आविष्कार किये वहाँ उसने वध के भी अनेक उपाय निकाले। गौ की प्रत्येक वस्तु पर खोज आरम्भ की। अब तो गौ की सभी वस्तुएँ उन्हें उपयोगी प्रतीत हुई। गौ का रक्त, गौ की आँतें, गौ की जिह्वा, गौ की हड्डी, गौ के सींग, गौ के खुर, जीवित गौ का माँस, चर्म

बाल, सुई लगाने को थन, यहाँ तक कि कोई गौ की कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं सिद्ध हुई। जीवित गौ मरी लगभग २००) रुपये के मूल्य की सिद्ध हुई। इसलिये गौ वध अब एक बडा भारी व्यापार हो गया। इस समय अँगरेजी काल से भी बहुत अधिक मात्रा में गो वध होता है। जीवित बछड़ों की खाल गोसल्ले की विदेशों में बहुत माँग है। हमारे यहाँ से निरीह असहाय बछडे मारकर जीवितावस्था म ही उनका सुकोमल चर्म उधेडकर विदेशों मे भेजा जाता है, उनके सुकोमल जूते, वैग आदि लेकर हम गौरव अनुभव करते हैं, यह हमारी कैसी विवशता है, कैसी पराधीनता है। हाय! भारत में भारतीय शासन हो और गो वश का ह्रास हो इससे बढकर लज्जा की बात और क्या होगी। आप सरकारी आँकडों से अनुमान कर सकते हैं कि अँगरेजी काल में—जब हिन्दुस्तान पाकिस्तान एक थे—तब से और अब जब भारत में भारतीय शासन है, स्वराज्य है, उसमें कितना अधिक गोवध बढ गया है। जिस स्वराज्य में गो वध ही बढा हो उस स्वराज्य का लेकर हम क्या करेंगे। जिस राज्य में गौ रक्षा के विघातक तत्व गोवश के नष्ट करने की वस्तुओं का प्रचार हो उस स्वराज्य से भारतीयों को क्या लाभ। गौ का उपयोग हम दूध, दही, घृत के लिये करते हैं, उसके बछड़ों से खेती कराते हैं, उसकी खाद से अन्नोत्पादन की वृद्धि करते हैं। मक्खन निकले अनुपयोगी, रोगों को बढाने वाला, शक्ति को क्षीण करने वाला—दूध का सूखा चूर्ण हम हालैंड तथा दूसरे देशों से मँगाते हैं। सुनते हैं मूंगफली का कृत्रिम दूध दही भी बनने वाला है। तेल को जमाकर उसमें मछली आदि का तेल मिलाकर घृत के नाम से वनस्पति आदि विविध नामों से कृत्रिम घृत को प्रोत्साहन देते हैं। बैलों को अनुपयोगी बनाने को करोडों रुपये के विदेशों से टैक्टर मँगाये जाते हैं, गौ के शुद्ध खाद के स्थान पर विदेश से वैज्ञानिक खाद

मँगायी गई, ये सभी तत्व गो रक्षा के स्वार्थी विरोधी हैं। यदि सरकार ने गोवध पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया, इन गो विरोधी तत्वों की रोकथाम नहीं की तो देश में गौओं के दर्शन दुर्लभ हो जायेंगे।

अँगरेजो राज्यकाल में गो वध पर प्रतिबन्ध लगे, इसके लिए प्रत्येक भारतीय नेता ने यथाशक्ति प्रयत्न किये। कांग्रेस के सभी नेता एक स्वर से गोवध पर प्रतिबंध लगे इसके पक्षपाती थे, महात्मा गाँधीने तो गोरक्षा पर अनेकों लेख लिखे। अपने आश्रम में गो सेवासदन खोले, गो रक्षिणी सभायें बनाईं, इस समय सभी को सोलहों आने यह विश्वास था कि जिस दिन स्वराज्य हो जायगा उसी दिन भारत में सदा के लिये गो वध बन्द हो जायगा। गो रक्षा के लिये आंदोलन हुए। श्री करपात्री जी के नेतृत्व में कितने ही लोग जेल गये, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा दो करोड के करीब हस्ताक्षर सरकार को भेजे गये, आर्य समाज ने आन्दोलन किया किन्तु गो हत्या बन्द नहीं हुई।

स्वराज्य होने के पश्चात् गो-रक्षा एक गम्भीर प्रश्न बन गया। स्वराज्य की घोषणा के साथ गो रक्षा की घोषणा जब नहीं हुई, तब लोगों ने आन्दोलन आरम्भ किया। सरकारकी ओर से गो-रक्षा-उन्नति-कमेटी बनी, उसने सर्वथा गो हत्या बन्दी के सिद्धात को स्वीकार किया। भारत के संविधान में भी सर्व सम्मति से गो-रक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार किया। धारा ४८ में स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया गया है। इन बातों से हमें ऐसा भान हुआ कि सरकार शनैः शनैः गो-वध बन्द कर देगी।

किन्तु जब केन्द्र से प्रान्तीय सरकार के पास परिपत्र भेजा गया कि ४८ धारा का अर्थ सर्वथा गो-वध बन्द करना नहीं है। इसका अभिप्राय उपयोगी पशुओं के वध बन्द करने से है, अतः

सर्वथा गो-वध बन्द किया जाय, जहाँ ऐसा नियम बना लिया हो वहाँ उस पर पुनर्विचार हो।

तब हमने समझा सरकारकी इच्छा सर्वथा गो-वध बन्द करने की नहीं है। फिर तो कृषि-मन्त्रियों के सम्मेलन में हमारे देश के प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट ही कह दिया कि अनुपयोगी पशुओं का वध तो होता ही रहेगा, पशुओ को पूज्य मानने की अन्ध-परम्परा तो मिटानी होगी। तब हमने समझा हमारी देशी सरकार तो विदेशियों से भी बढ़-चढ़कर है, तब हमने जनमत जाग्रत करने का विचार किया। हमारे देश में सबसे अधिक उत्तरदायी प्रधान मन्त्री ही माने जाते हैं, वे ही कांग्रेस दल के अध्यक्ष भी हैं, जिस दल का शासन मे बहुमत है, वे ही अनुपयोगी गौओं के सबसे अधिक वध के पक्षपाती भी प्रतीत होते हैं, इसलिये जिस क्षेत्र से वे चुने गये हैं, उस क्षेत्र के मतदाताओं का क्या मत है, इसके लिये राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा अन्यान्य लोगों ने नेहरूजी के चुनाव क्षेत्र में गो-वध-बन्दी के पक्ष में मत-संग्रह किये। नेहरूजी को उस क्षेत्र से २३३५०१ मत मिले थे, हमने अल्पकाल में ३२४८४२२ मत तो एकत्रित किये और भी प्रयत्न करते, तो पूरे-के-पूरे मत हमें निश्चय ही प्राप्त होते, किन्तु श्रम-साध्य अर्थ-साध्य और काल-साध्य होने से हमने अभी अधिक मत-संग्रह स्थगित कर दिया है। यदि हमें कोई चुनौती दे, तो हम आत्म-विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मुट्ठी-भर कांग्रेसी कार्यकर्ता तथा कुछ विधर्मियों को छोड़कर सब-के-सब गौ-माता की रक्षा के पक्ष में ही मत देंगे।

यदि कोई जनतन्त्रीय सरकार होती, तो उसे तुरन्त जनमत के सम्मुख नत-मस्तक हो जाना था, किन्तु हमारी सरकार तो केवल नाममात्रकी ही प्रजातन्त्रीय है, उसके सूत्रधारके मस्तिष्क में जो भी बात बैठ जाय, फिर चाहे वह भारतीय परम्परा, भारतीय धर्म,

भारतीय संस्कृति के विरुद्ध ही क्यों न हो, उसे वह बलपूर्वक सबके सिर पर थोपना चाहते हैं।

तीर्थराज प्रयाग में महाकुम्भ के पवित्र अवसर पर गौ-रक्षा के पक्षपाती सभी दलों तथा सज्जनों ने मिलकर एक, "गौ-हत्या निरोध-समिति" बनायी, उसकी ओर से सम्पूर्ण कुम्भ मेले में गौ रक्षा प्रचार किया गया, साहित्य वितरित हुआ, गो-प्रदर्शिनी हुई, गौ-माता के लिये लाखों नर-नारियों ने उपवास किया, साधुओं की शाही के साथ सजी-सजायी गौएँ निकाली गयीं, शोभा यात्रा निकाली, स्थान-स्थान पर गौ-रक्षा-सम्मेलन हुए तथा और भी गौ-माता की रक्षा के विभिन्न कार्य हुए। कहना चाहिये सम्पूर्ण कुम्भ मेला गो-रक्षा-आन्दोलन के ही रूप में परिणत हो गया है। उसी सम्मेलन में यह भी निश्चय हुआ कि सरकार ने यदि आगामी जन्माष्टमी तक गो-वध बन्द न किया, तो प्रबल आन्दोलन करके कोई उग्र उपाय किया जाय। भगवान् करें हमें अपनी ही सरकार के—जिसे हमने अपने रक्त से सींचा है—जिसके लिये हमने जेलों की यातनाएँ झेली हैं, उसके विरुद्ध हमें उग्र उपाय न करना पड़े। पर यदि हमें विवश होना पड़ा, तो हम इसके लिये भी न चूकेंगे। इसलिये हमें अभी से जनमत तैयार करके जन-जागृति का काम करना चाहिये। इतने काम हमें करने हैं :—

(१) स्थान-स्थान पर-गौ हत्या-निरोध-समितियों की स्थापना करें।

(२) गौ-माता के लिये प्राण देने के लिये गौ-सेवकों से प्रतिज्ञा-पत्र भरावें।

(३) जो प्राण न दे सकते हो, वे साधारण-सेवकों के नियमो के प्रतिज्ञा-पत्र को भरकर साधारण सेवक बनें।

(४) गो-सेवा सम्बन्धी साहित्य-प्रचार, सभा, प्रभात-फेरी, शोभा-यात्रा आदि में सक्रिय भाग लें।

प्राणों को दे दें, तो वे इन पापों से छूट जाते हैं। जिनसे कोई पाप न बना हो, ऐसा यदि निष्पाप एक भी प्राणी स्वेच्छा से प्राण दे दे, तो उसके पुण्य-प्रताप से गो-वध तो बन्द हो ही जायगा, उसका यश दिगदिगन्तों में फैल जायगा। यदि पापी भी गौ के निमित्त प्राण दे दे, तो वह पाप से मुक्त होकर विशुद्ध बन जायगा। मैं भी प्रायश्चित करना चाहता हूँ। गो-माता के नाम पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने की शक्ति के लिये भगवान् के द्वार का भिक्षुक हूँ, वह कब और कैसे मिले इसे भगवान् ही जानें।

उन पापहारी जगत् पिता परमात्मा के पाद-पद्मों में मेरी पुनः पुनः प्रार्थना है कि वह हमें बलिदान की शक्ति प्रदान करें, जिससे हम गौ-माता के लिये बिना भय के हँसते-हँसते प्राणों का उत्सर्ग कर सकें। मैं निष्पाप निष्कलंक तो हूँ नहीं, मैं नेता बनने योग्य भी नहीं, विद्या-बुद्धि, तपस्या तथा सिद्धि का भी मुझमें अभाव है, गौ-रक्षा के लिये कुछ भावना अवश्य है, उस भावना में यदि कुछ बल है, तो मैं इस बलिदान-यज्ञ में अपने देश के नवयुवकों को आह्वान करता हूँ और उनसे बल पूर्वक कहता हूँ युवको ! अब देश स्वतन्त्र है, अब तो भारत से गोवध बन्द होना ही चाहिये अब तो गो-हत्या का कलंक भारतमाता के भाल से मिटाना ही चाहिये। वीरो ! आओ प्राणों का उत्सर्ग कर दो, गौ-माता के प्राणों को बचा लो।

छप्पय

वीरो ! वीरो !! उठो ! उठो !! अब देर न लाओ।
गो-माता डकराइ ताइ अब आइ बचाओ ॥
चलीं बहुत दिन छुरी गले पै अब न चलिङ्गी ॥
मिलीं बहुत धिक्कार जगतमें अब न मिलिङ्गी ॥
माँ के हित मिट जायँगे, गो-वध बन्द कराइँगे।
पीछे पग न हटाइँगे, गो-रक्षक कहलाइँगे ॥

सारातिसार उपदेश

(१३२०)

परस्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मक पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० १ श्लो०),

छप्पय

उद्धव बोले—"प्रभो ! करें परमार्थ निरूपन ।
हरि बोले—"नहिं लखे कबहुँ परगुन अरु दूपन ॥
निन्दा इस्तुति करें जीव की जो जड़ प्रानी ।
परमारथ ते गिरें द्वैत करिके अज्ञानी ।
का जग में शुभ अशुभ है, ये सब गुन के खेल हैं ।
जगत पदारथ असत हैं, विकृत गुननि के मेल हैं ॥

अज्ञान की सब से मोटी पहिचान है परचर्चा । जिसका मन जितना ही परचर्चा में निमग्न रहेगा वह उतना ही अज्ञानी है । हम लोग दश पाँच आदमी जहाँ बैठते हैं, वहाँ ये ही बातें होती

---

* श्री भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! दूसरों के स्वभाव की न तो निन्दा करे और न प्रशंसा । क्योंकि प्रकृति और पुरुष के सहित यह विश्व एकात्म भाव से अवस्थित है ।"

हैं—"वह बड़ा दुष्ट है, उसने उसे मार डाला, पर स्त्री गमन किया, उसका इतना धन चुराया। हम तो उस व्यक्ति को अच्छा मानते हैं। उसके पास हम अमुक काम के लिये गये। हमें देखते ही उठ खड़ा हुआ। हमारे काम को तत्काल कर दिया। एक उसके अमुक भाई भी है। मार्ग में कहीं मिलते हैं मुँह छिपा लेते हैं, बात भी नहीं करते।" इसी प्रकार से किसी की निन्दा करेंगे किसी की स्तुति। निन्दा स्तुति करने वाला इस जगत् को सत्य मानता है। इनके पदार्थों को अपरिवर्तन शील शाश्वत मानकर उनके लिये झगड़ता है। जो इसके स्वार्थ में सहायक होता है उसकी स्तुति करता है, जो स्वार्थ में विघ्न डालता है उसकी निंदा करता है। सोचता यह नहीं है कि जिस वस्तु के लिये मैं लड़ रहा हूँ, वह वस्तु ही सत्य नहीं है। एक कहानी है, दो आदमी थे बैठे बैठे बातें करने लगे—"भाई अब के हम तुम दोनों मिलकर ईख बोवें।"

एक ने कहा—"बीज कहाँ से ले आओगे ?"

दूसरे ने कहा—"अरे,अमुक के यहाँ बहुत सुन्दर गन्ने हुए थे उसी से ले आवेंगे।"

पहिले ने कहा—"कै बीघा बोओगे।"

दूसरे ने कहा—'दस बीघा बहुत है।"

पहिला बोला—"हाँ उस खेत में बहुत खाद पड़ी है। बड़ी लम्बी लम्बी ईख होगी। मैं तो नित्य प्रातः उठकर नित्य कर्म से निवृत्त होकर पाँच गन्ने चूसा करूँगा।"

दूसरे ने कहा—"भैया ! मैं तो दस चूसा करूँगा।"

इस पर पहिला बोला—"वाह जी, तुम दस कैसे चूसोगे। यदि दस चूसोगे तो मैं बीस चूसूगा।"

इस पर दूसरे को आवेश आ गया। बोला—"तुम बीस चूसने वाले कौन हो ? मैं तुम्हारा सिर फोड़ दूँगा।"

इस पर दूसरा भी क्रुद्ध हो गया। लाठियाँ चल गयीं दोनों का ही शरीर क्षत विक्षत हो गया। राजद्वार में अभियोग गया। न्यायाधीश ने सब सुनकर कहा—"भाई! तुमने दस बीघा खेत तो जोत लिया। ईख भी बो दी। गन्ने भी चूस लिये, उन पर लडाई भी हो गयी। पहिले दस बीघा का भूमि-कर दो।"

इस पर वे बोले—'महाराज! हमने खेत जोता कहाँ न हमने गन्ने ही खाये। हममें लडाई तो कल्पित गन्नों के पीछे हुई।"

न्यायाधीश ने कहा—"तुम से अधिक मूर्ख और कौन होगा जो मिथ्या गन्नों के पीछे आपस में लड गये। जब लडे ही तो इसका दंड भोगो।"

कहने का सारांश इतना ही है, कि हम मिथ्या पदार्थों में सत्य का अभिनिवेश करके दूसरों की निन्दा स्तुति करते हैं परमार्थ से पतित होते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से सारातिसार परमार्थ तत्व पूछा, तो भगवान् ने कहा—'उद्धव! समस्त उपदेश और शिक्षाओं का सार यह है, कि कभी भूलकर भी न तो किसी की निन्दा करे न स्तुति।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! ऐसा कैसे होगा, जिसका बुरा स्वभाव होगा उसे बुरा कहा जायगा, जिसका अच्छा स्वभाव होगा, उसे अच्छा कहा जायगा।"

भगवान् ने कहा—"स्वभाव कहते हैं प्रकृति को। प्रकृति होती है, त्रिगुणात्मिका। जब उसके गुणों में सृष्टिकाल आने पर विकृति होती है तो पुरुष की सहायता से इस विश्व की सृष्टि होती है। मकडी के जाले में क्या है, ताने में भी सूत्र बाने में भी सूत्र। तुम ताने की निन्दा करो तो सूत्र की निन्दा होगी, बाने की

निन्दा करो तो सूत्र की निन्दा होगी। सूत्र के अतिरिक्त जाल में कोई दूसरी वस्तु हो, तो उसकी निन्दा स्तुति की भी जा सकती है। इसी प्रकार जगत् में मेरे अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ है ही नहीं। दृश्य प्रपञ्च जितना है सब असत् है। इसको जो सत्य मानकर व्यवहार करता है उसका शीघ्र ही पतन हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"यदि असत् को सत् मान ही लें तो इसमें हानि ही क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"हानि तो बहुत है, तुम असत् का चिंतन करते रहोगे, तो इसमें अभिनिवेश हो जायगा। जैसे विचार करो ये इन्द्रियाँ क्या हैं ?"

उद्धवजी ने कहा—"प्रकृति से महत्तत्व और महत्तत्व से अहंकार होता है। यह सात्विक राजस और तामस तीन प्रकार का होता है, राजस अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।"

भगवान ने कहा—"हाँ, यथार्थ है, अच्छा तो विचार करो इन्द्रियाँ जब तमोगुण की अधिकता से निद्राग्रस्त हो जाती हैं, तब शरीरस्थ जीव को चेतना नहीं रहती। उस समय स्वप्नावस्था में एक स्वप्न जगत् की सृष्टि करता है, अथवा सुषुप्ति अवस्था में अत्यन्त विस्मृति होने से गाढ निद्रा को या मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसके मन में सदा भेदभाव बना रहेगा वह भेदभाव को ही प्राप्त होगा। असत् का चिन्तन करते रहने से असत् की ही प्राप्ति होगी। जहाँ नानात्व है ही नहीं वहाँ नानात्व स्थापित करके माया के चक्कर में फँसकर बार बार जन्मता रहेगा बार बार मरता रहेगा।"

उद्धवजी ने कहा—"फिर भी महाराज ! बुरे को बुरा और भले को भला कहना ही पड़ेगा।"

भगवान ने कहा—"फिर वही बात। अरे, इस संसार में क्या

बुरा क्या भला। अच्छा हम तुमसे ही पूछते हैं, तुम हमें जगत् में से छाँटकर बता दो इसमें कितना अंश बुरा है कितना अच्छा है। कितना शुभ है कितना अशुभ है।"

उद्धवजी ने कहा—"अब महाराज! आप ही बतावें संसार में जिसे हम भला कहते हैं दूसरे बहुत से लोग उसे बुरा कहते हैं। हम जिस वस्तु को बुरी बताते हैं दूसरे उसके लिये प्राण देते हैं। अतः यह निर्भ्रान्त निर्णय होना कठिन है कि इतना बुरा है इतना भला है इतना शुभ है इतना अशुभ है।"

भगवान् ने कहा—"भैया! इस संसार में तुम्हें जो भी दिखायी देता है सब नाशवान् है। जो नाशवान् है वह मिथ्या है। वाणी से तुम जिन घट पट को बोलते हो, मन से जिनका चिंतन करते हो ये सभी वस्तु असत् हैं मिथ्या हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! मिथ्या वस्तुओं से तो व्यवहार नहीं हो सकता। काठ का मिथ्या घोड़ा बनाकर रख दें तो उससे यात्रा तो नहीं की जा सकती। बालू के मिथ्या लड्डू बनाकर रख दिये जायँ तो उनसे भूख तो नहीं मिट सकती। इसी प्रकार यदि वास्तव में संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं तो इनके कारण हमें क्लेश क्या होता है।"

भगवान् ने कहा—"मिथ्या वस्तुओं से भी तो क्लेश होता है। रात्रि मे तुम्हें एक टेढी मेढी लकडी की छाया दिखायी देती है उसे देखकर किसी को भूत का भ्रम होता है, जब तक उसका भ्रम दूर नहीं होता तब तक वह उस मिथ्या छाया को ही देखकर डरता रहता है। बहुत से तो उस छाया के डर से ही मर जाते हैं। वास्तव में वह भूत नहीं था सर्वथा मिथ्या छाया थी, किन्तु भ्रम होने से उसमें में सत्यत्व की प्रतीति होने लगी उससे भय हुआ। छाया से काम भी होता है। बहुत से लोग छाया पुरुष को सिद्ध करके उससे इच्छानुसार बड़े बड़े कार्य करा लेते हैं

दूसरा दृष्टान्त लीजिये पक्के घरों में गुफाओं मे बच्चे बोलते हैं उस बोलने की प्रतिध्वनि घर से निकलती है। अज्ञानी लोग समझते हैं घर बोल रहा है, गुफा से ध्वनि निकल रही है। एक कूप में सिंह ने दहाड मारी। कूए मे से उसकी दहाड की प्रतिध्वनि सुनायी दी। उसने समझा कोई भीतर दूसरा सिंह बोल रहा है, वह कूए मे कूद पडा और मर गया। देखा जाय तो वास्तव में जो प्रतिध्वनि का शब्द कुए मे से निकला था वह सर्वथा मिथ्या था, किन्तु उससे कार्य तो हो ही गया। सिंह का प्राणान्त तो उसने कर ही दिया।

एक टेढी मेढी रस्सी पडी है, दूर से किसी ने उसे सर्प समझा। वह डर गया। वास्तव में उसमे सर्प त्रिकाल मे नहीं था किन्तु उसे मिथ्याभास हो गया। वह तब तक भयभीत रहेगा, जब तक उसका भ्रम निवृत्त न होगा। किसी को दूर से पडी हुई सीपियों में चाँदी का भ्रम हो गया। वह उन्हें लेने दौडा और ठोकर खाकर गिर गया। चोट लग गयी, सीपियो मे चाँदी न पहिले थी, न अब है न आगे होगी, किन्तु मिथ्या भ्रम से उसे चोट तो लग ही गयी। इससे यह नहीं कह सकते, कि मिथ्या वस्तु से कुछ काम होता ही नहीं। इस देह को ही ले लो सभी जानते हैं यह सत् नहीं, एक रस नहीं, परिवर्तन शील है, नाशवान है किन्तु फिर भी मृत्यु पर्यन्त इसके कारण नाना क्लेश होते ही रहते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! कर्ता के बिना तो कार्य होता नहीं। एक कार्य होता है एक उसका करने वाला होता है। कार्य कर्ता से पृथक् होता है। जैसे कोई देवदत्त है उसने घर बनाया, तो घर पृथक् है, देवदत्त पृथक् है देवदत्त ही तो घर नहीं बन गया। जैसे कुम्हार है घडा है। घडा कुम्हार से पृथक् है। कुम्हार ही स्वयं घडा नहीं है।

भगवान् ने कहा—"कर्ता और कार्य दो पृथक् ही हों ऐसी बात नहीं। दूध ही जैसे दही के रूप में परिणत हो जाता है। मकड़ी ही अपने खेल के लिये जाला बनाकर खेलती है, फिर उसे अपने में विलीन कर लेती है। ऐसे ही आत्मा ही आत्मा रूपप्रभु ही विश्व में परिणत हो गये है। स्वय वे ही ब्रह्मा बनकर जगत् को रचने वाले हैं स्वयं ही रचे जाने वाले जगत् हैं। स्वयं ही वे विष्णु बनके पालन करते हैं। स्वय ही विश्व बनकर पाल्य हो जाते है। स्वयं ही रुद्र बनकर जगत् के संहारक बनते हैं और स्वयं ही संहृत हो जाते हैं। जैसे अन्य पदार्थों को प्रकाशित होने के लिये सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि आदि के प्रकाश की आवश्यकता है, किन्तु सूर्य स्वय ही अपने प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है उसे अपने प्रकाश के लिये अन्य किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार आत्मा स्वयं प्रकाश है उसे अन्य किसी की अपेक्षा नहीं। जो भाव आत्मा से भिन्न से प्रतीत होते हैं वे भी किसी अन्य पदार्थ द्वारा निरूपित नहीं होते।

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! जब आत्मा सत्य है, तो इस असत् की प्रतीति किसमें होती है?"

भगवान् ने कहा—"सत् असत् सबकी प्रतीति का अधिष्ठान आत्मा ही है। आत्मा में ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों भावों की प्रतीति होती है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! कारण के बिना कार्य नहीं होता। यह जो आत्मा में तीन प्रकार की प्रतीति हो रही है, वह किस कारण से होती है।"

भगवान् ने कहा—"कारण कुछ नहीं अकारण ही प्रतीति हो रही है, निर्मूल ही यह भासित हो रहा है। मेरी इच्छा ही एक-मात्र कारण है। यह जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि-भौतिक प्रतीति होती है यह गुणमयी है और माया कृत है।

जब सब मायाकृत है, तो इसमें सत्यत्व बुद्धि करके आसक्त क्यों हों। जब हम एक की निन्दा करते हैं और दूसरे की स्तुति करते हैं। तब इन सांसारिक वस्तुओं मे हमें सत्यता प्रतीत होने लगती है। जैसे बच्चे मिट्टी के खिलौने बना लेते हैं, उनमें से एक को प्यार करते हैं दूसरे का तिरस्कार करते हैं। मिट्टी मिट्टी सब एक सी। नाम और आकृति को निकाल दो मिट्टी ही रह जायगी। नाम रूप दोनों ही मिथ्या हैं, फिर निन्दा स्तुति के लिये स्थान कहाँ है ?"

उद्धवजी ने कहा—"जब भगवन् ! किसी की निन्दा करे न स्तुति करे तो फिर करे क्या ?"

भगवान् ने कहा—"जिसमें ऐसी ज्ञान विज्ञान की प्रवीणता आ गयी, फिर उसे करने लिये शेष ही क्या रह जाता है। आनंद से निर्विकार होकर विचरण करे। जिस घटना को भी देखे, उसे ही देखकर सोच ले ये गुण परस्पर में बरत रहे हैं। किसी को रजोगुण बढ़ गया क्रोध आ गया, तमोगुण बढ़ गया सो गया या कोई उत्पात करने लगा। सत्वगुण बढ़ गया तो ज्ञान ध्यान की बात करने लगे। तीनों भुवनों मे ऐसा कोई दिखाई न देगा, जो किसी न किसी गुण मे बरत न रहा हो। यह संसार माया-मात्र और त्रिगुणमय तो है ही। इसमें भेदभाव तभी होता है जब अपने मन में भेदभाव रहता है। सूर्यनारायण हैं, धर्मात्मा के घर भी प्रकाश करते हैं। और चांडाल तथा गौघाती को भी उतना ही प्रकाश देते हैं। गंगाजल को भी अपनी किरणों से सोखते हैं और विष्ठा मूत्र में से भी जल सोखते हैं। बिना भेद-भाव के वे निर्लिप्त भाव से सदा सर्वदा व्यवहार करते हैं इसी प्रकार तत्वदर्शी को सभी भेद भावों को भुला देना चाहिये। वह निर्द्वन्द्व, निरीह तथा निर्लिप्त होकर समान भाव से सदा सर्वदा सर्वत्र विचरण करता रहे।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन ! ससार से असंगता हो कैसे ?"

भगवान् ने कहा—"आत्मा तो असग है ही । भ्रमवश मिथ्या प्रपञ्च में आसक्ति हो गयी है, उसे विचार विवेक से हटाता रहे । स्वय मरते हुओं को देखे कि जिस शरीर को ये कितना प्यार करते थे, शरीर को ही सब कुछ समझते थे । शरीर के लिये ही झूठ, पाप तथा छल कपट करते थे । वही शरीर आज धूलि मे पडा है, मक्खियाँ भिन भिना रही हैं । फूँक दिया या फेंक दिया पाँचों भूत पाँचों भूतों में मिल गये । ऐसे शरीर मे क्या आसक्ति करनी ।

अनुमान से भी विचार करे । जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होगा । मिट्टी का चाहे जो पदार्थ बना लो कैसा भी उसे सजा लो रहेगा वह मिट्टी का ही । इसी प्रकार यह शरीर, दाल भात रोटी साग तथा अन्य पदार्थों से बनता है । आज चावलों को बनाकर रख दो । दो दिन मे सड जायँगे, दुर्गन्ध आने लगेगा, आज रोटियाँ बनाकर रख दो, तीसरे दिन इनमे फफूंदा पड जायगा । खाने योग्य न रहेंगी । इन नाशवान् अनित्य सडने और बिगडने वाले पदार्थों से बना शरीर नित्य हो ही कैसे सकता है । नीम क वृक्षपर आम कैसे लग सकते हैं ।

शास्त्रों के वचनों पर भी विश्वास करने से ससार की अनित्यता सिद्ध होती है । सभी शास्त्र डके की चोट पर चिल्ला चिल्ला कर कह रहे हैं । यह शरीर अनित्य है । ससारी सभी वस्तुएँ नश्वर हैं । इनमें मोह मत करो ।"

शास्त्र को भी न माने तो स्वय ही अनुभव करे । पहिले हम बालक थे, युवक हुए अब बुड्ढे हो गये अङ्ग शिथिल पड गये । दिन दिन क्षीणता की ही ओर जा रहे हैं । ऐसे शरीर से क्या ममता कैसा मोह । इसका तो नाश अवश्य ही होगा । फिर

इस नाशवान् से क्या नाता जोड़ना इसे क्यों अपना समझना। ये जितने भी संसार के पदार्थ हैं अनात्म हैं असत् हैं आदि अन्त युक्त हैं तथा असार हैं, फिर इनमें सङ्ग क्यों करना, निस्संग होकर आत्मा में रमण करते रहना।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! एक मुझे शंका है। इस प्रपञ्च की प्रतीति होती किसे है। शरीर में दो वस्तु हैं एक आत्मा दूसरा शरीर। आप कहो कि प्रपञ्च की उपलब्धि आत्मा में होती है, तो आत्मा तो स्वयं प्रकाश है ज्ञान स्वरूप है साक्षी मात्र है इसमें अज्ञान की प्रतीति तो हो नहीं सकती जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार कैसे रहेगा? साक्षी को अपराध नहीं चिपटता। यदि आप कहें कि स्वयं प्रकाश साक्षी आत्मा को उपलब्धि नहीं होती। देह को होती है, तो देह तो जड़ है। जड़ को भला क्या प्रतीति होगी। अन्धकार को अन्धकार ने खा लिया यह तो पिष्ट पेषण मात्र है। जड़ में जड़ का क्या भान होगा। जैसे अग्नि सर्व व्यापक है, अव्यय है, मल से रहित विशुद्ध स्वयं प्रकाश अनावृत तथा निर्गुण है। देह काष्ट के समान जड़ है। फिर यह प्रपञ्च दीखता किसको है?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! तुम ने प्रश्न तो बहुत उत्तम किया। ऐसा प्रश्न तुम्हीं कर सकते हो। जिसको विषय के समझने की क्षमता ही नहीं वह शंका क्या करेगा। करेगा भी तो कुछ भी कुछ करेगा। तुम्हारी शंका युक्ति युक्त है। अब मैं तुम्हारी शंका का ही समाधान करूँगा। तुम्हारे प्रश्न का ही उत्तर दूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जैसे उद्धवजी की शंका का समाधान किया उसे मैं आप से कहता हूँ, आप इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

हरि ही सब बनि गये करन अरु कारन कर्ता।
वे ही पालक पाल्य बने सहृत संहर्ता॥
होवे त्रिविधि प्रतीति गुनमयी माया मानों।
निज अनुभव प्रत्यक्ष वेद तें जाकूँ जानों॥
उद्धव पूछें—"देह जड, आतमा स्वयं प्रकाश है।
होइ प्रतीती कौन कूँ, का में भ्रम को बास है॥

संसार की असारता

(१३२१)

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० १२, श्लो०)

छप्पय

हँसि बोले भगवान—"असत जग आत्मा है सत ।
देह, करन, मन, प्रान रहें जब तक सम्बन्धित ॥
तब तक यह अज्ञान रहे नहिँ छूटे बन्धन ।
ज्यों नहिँ छूटे स्वप्न, होहि अनरथ नहिँ छिन्दन ॥
देह, करन, मन प्रान को, अभिमानी ही जीव है ।
अहं अविद्या तें रहित, स्वयं प्रकाशित शीव है ॥

एक कहावत है "मानो तो देव न मानो तो पत्थर है ।" वास्तविक रूप से देखा जाय तो यह संसार मान्यता के ही ऊपर

---

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जब तक अविवेकी पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन से सम्बन्ध है, तब तक संसार के सर्वथा असत् होने पर भी उस को यह सुख दुःख रूप फल को देने वाला होता ही है ।"

चल रहा है। कहाँ लडकी पैदाहुई, कहाँ लडका पैदा हुआ। दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं, जान नहीं पहिचान नहीं। परस्पर में दोनों ने एक दूसरे को पति पत्नी मान लिया। स्वीकार कर लिया कर लेने पर कष्ट सह कर भी निभाते हैं एक दूसरे की बात सहते हैं। ये हमारे गुरु हैं, मित्र हैं सगे सम्बन्धी हैं ये सभी बातें मान्यता पर निर्भर हैं। मन जिसे अच्छा मान ले वह अच्छा लगने लगता है, मन जिसे बुरा कह दे उसमें बुराई ही दिखायी देने लगती हैं। वास्तव मे न कोई अच्छा है न बुरा सवत्र एक ही तत्व है। एक ही सुवर्ण नाना आभूषणों के रूप में बन गया है। आभूषण बनने के पूर्व भी सुवर्ण था, अन्त में आभूषणों के तोडने पर भी सुवर्ण ही शेप रह जाता है। बीच मे जो नाम रूप की उपाधियों के कारण उसे जजीर, तोडा, पँचमनिया, कंकण, करधनी तथा अगूठी आदि कहने लगे थे वे सब मिथ्या थे। जब वह आभूषणों के रूप में परिणत हो गया था, तब भी उसका सुवर्ण-पना नष्ट नहीं हुआ था, क्यों कि यह सिद्धान्त है, कि जो आदि और अन्त में रहता है वही मध्य मे भी रहता है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने यह पूछा कि देह जड है आत्मा चैतन्य और स्वयं प्रकाश है, फिर प्रपञ्च की प्रतीति किस में होती है? तो इस पर भगवान् कहने लगे—"उद्धव! यह प्रतीति न जड में है न चैतन्य में भ्रम में ही भ्रम की प्रतीति हो रही है।"

उद्धव जी ने चौंक कर पूछा—"महाराज! भ्रम की प्रतीति कैसे होती है। भ्रम कहाँ रहता है।'

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! सब का अधिष्ठान आत्मा ही है।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! आत्मा तो स्वय प्रकाश ज्ञान

स्वरूप है, उसमें भ्रम कैसे रहेगा। प्रकाश होने पर अन्धकार का अस्तित्व कैसे रह सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकाश अन्धकार की निवृत्ति करता है, किन्तु प्रकाश के होने पर कहीं अन्धकार रहे ही नहीं ऐसी बात तो नहीं है। स्वयं ही दीपक के नीचे ही अन्धकार बैठा रहता है। किन्तु वह अन्धकार प्रकाश के सम्मुख कुछ अनर्थ नहीं कर सकता। इसी प्रकार संसार सर्वथा असत् है एक मात्र आत्मा ही सत् है। फिर जब तक शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, प्राण तथा मन से पुरुष का सम्बन्ध है, और अविवेक है। तब तक संसार की प्रतीति होगी, उससे होने वाले पुण्य पाप भी होंगे और उनके फल सुख दुःख भी भोगने ही पड़ेंगे। जब जीव का अज्ञान नष्ट हो जायगा तो संसार की सत्यता भी निवृत्त हो जायगी।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज ! जो वस्तु असत् है, उससे दुःख मिल नहीं सकता है। जिस वन्ध्या के पुत्र है ही नहीं उसको पुत्र के सिर में पीड़ा जनित दुःख होगा ही कैसे ?"

भगवान् ने कहा—"असत् वस्तु से भी दुःख मिल जाता है। स्वप्न में हम देखते हैं, एक भयंकर आदमी हाथ में तीक्ष्ण छुरा लेकर आता है, हमें काटने लगता है, उस समय बड़ा क्लेश होता है। स्वप्न का पुरुष, स्वप्न का छुरा दोनों ही असत् हैं, किन्तु जब तक स्वप्न टूटता नहीं जाग्रत अवस्था को प्राप्त नहीं होते तब तक उन असत् वस्तुओं से कष्ट होता ही है। स्वप्न में तो ये सब न होने पर भी सत्य से ही दिखायी देते हैं कष्ट भी उतना ही होता है, जितना जाग्रत में यथार्थ में छुरा मारने से होता है। घबड़ाहट भी वैसी ही होती है। इसी प्रकार यह संसार सर्वथा असत् है, किन्तु अज्ञान में पड़ा हुआ प्राणी जब तक इसे सत् मान कर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सुख वाले विषयों का चिन्तन करता रहेगा तब तक यह संसार निवृत्त नहीं

होगा, नहीं होगा त्रिकाल मे भी नहीं होगा। जब तक सोता रहेगा स्वप्न देखता रहेगा क्लेश सहता रहेगा। जागने पर उसे न भय होगा न शोक, न मोह और न पश्चात्ताप ही वह केवल हँस पड़ेगा। वे स्वप्न की वस्तुएँ विलीन हो जायेंगी। विलीन क्या हो जायेंगी वे तो थी ही नहीं। इसी प्रकार अज्ञानावस्था मे ही मनुष्य को इन मायिक असत् पदार्थों से भय लगता है, ज्ञान के उदय हो जाने पर निर्भय हो जाता है। अच्छा तुम विचार करो एक पुत्र है वह मर गया इससे पिता को अत्यन्त शोक हो गया। एक पुत्र उत्पन्न हो गया हर्ष हो गया। किसी बलवान का हाथ मे शस्त्र लेकर मारने को आते देखकर भय के कारण काँपने लगे, किसी ने हमारी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर दिया उस पर क्रोध आ गया। कहीं से द्रव्य मिल गया उसे देख कर लोभ बढ़ गया, अत्यंत सुन्दर पत्नी से अत्यन्त सुकुमार नन्हें से बच्चे से या अन्य किसी भी वस्तु से मोह हो गया, जो वस्तु हम पर नहीं है उसे प्राप्त करने की इच्छा हो गयी। हमारे सगे सम्बन्धी मर गये या उनके सन्तान हो गयी। ये सब काम किस मे होते हैं।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! ये सब काम तो संसार में रहने से होते हैं।"

भगवान् ने कहा—"संसार मे कितने नित्य बालक होते हैं, कितने मरते है। उन सब के मरने पर न हमे दुःख होता है और पैदा होने से सुख।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! उनसे हमारा कोई सम्बन्ध तो है नहीं। जिनसे कुछ सम्बन्ध होगा उनके मरने पर उत्पन्न होने पर हर्ष शोक अवश्य होगा।

भगवान ने कहा—"हाँ, यही बात है। शोक हर्ष भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा तथा जन्म मृत्यु ये जो सब भाव हैं ये सब के सब अज्ञान जनित अहंकार में ही होते हैं। अहंकार के कारण

ही ममत्व होता है। अहंता ममता के ही कारण संसार की प्राप्ति होती है। आत्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध है उससे और इन सब सुख दुखादि द्वन्द्वों से कोई सम्बन्ध नहीं।"

उद्धव ने कहा—"महाराज! मेरा प्रश्न तो रह ही गया। इस प्रपञ्च की प्रतीति चैतन्य आत्मा को होती है या जड़ देह को?"

भगवान् ने कहा—"न आत्मा को होती है न शरीर को। इस प्रपञ्च की प्रतीति होती है जीव को।"

उद्धव जी ने कहा—"जीव किसे कहते हैं भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"देखो, देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि का अभिमानी जो अन्तरात्मा है उसी की जीव संज्ञा है। गुण और कर्म ही उसकी मूर्ति है। उसी को कोई सूत्रात्मा कहते हैं कोई महान् या महत्तत्व कहते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं मे उसे अनेकों नामों से कहा गया है। व ी अन्तः करण का अभिमानी जीव काल कर्म के अधीन होकर संसार में जन्मता मरता सा प्रतीत होता है और नाना ऊँची नीची योनियो मे भ्रमण करता रहता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! फिर यह संसार चक्र छूटे कैसे? आत्म ज्ञान कैसे प्राप्त हो।"

भगवान् ने कहा—"संसार में जो तुम अच्छा, बुरा, सुन्दर, सुख दुख देख रहे हो यह वास्तव मे कुछ है थाडा ही हमारा मन नाना रूप रख कर आता है। मन के पीछे इन्द्रियाँ जाती हैं प्राण भी उसी का अनुसरण करने लगते हैं शरीर भी उसी के संकल्प से कर्म करने लगता है। संसार की सभी चेष्टायें होने लगती हैं। ये सब की सब निर्मूल और भ्रान्त हैं। विषयों में दौड़ता हुआ मन अनुकूलता खोजता है, विषयों में अज्ञान वश सुखानुभव करता है, उनमें तृष्णा हो जाती है, संसार और सुदृढ़ होता जाता है। ममता होने से आसक्ति होती ही है। संसारासक्ति

ही बन्धन का मूल कारण है। अतः सद्गुरु के चरणों में जाकर उनकी सेवा शुश्रूषा करे। निष्कपट भाव से उनकी उपासना करे। ज्ञान कहीं से लाना थोड़ा ही है। उपयोग न करने से वह कुंठित हो गया है उस पर काई जम गयी है। जैसे तुम आँखों पर पट्टी बाँधे रहो, तो कुछ काल में काम न लेने से आँखों की ज्योति चली जायगी, फिर दिखायी न देगा। हाथ को ऊपर उठाये रहो, तो कुछ काल मे फिर वह झुकेगा नहीं। एक दर्पण है उसे काम में मत लो यों ही रखा रहने दो कुछ काल मे उस पर धूलि जम जायगी अपना स्वरूप दिखायी न देगा। यहाँ तक कि दर्पण भी ढक जायगा। भाग्यवश कोई ज्ञानी गुरु आ जाय और वह आज्ञा दें कि इस दर्पण की धूलि को पोंछ डालो। तुमने उनकी बात मान ली, तो तत्क्षण तुम्हें दर्पण में अपना स्वरूप दिखायी देने लगेगा। गुरुदेव ने कहीं से लाकर दर्पण मे तुम्हारा स्वरूप नहीं रख दिया। उन्होंने ने तो केवल आवरण हटा दिया है। स्वरूप दिखाने की क्षमता तो दर्पण मे पहिले ही से थी। गुरुदेव ने उसे निर्मल बनाने की युक्ति बता दी। एक पेड़ है उसके चारों ओर घास कूड़ा बढ गया है। तुम्हारे पास खुरपी भी है, किन्तु उससे काम न लेने के कारण वह कुंठित हो गयी है, उस पर मैल जम गया है। किसी गुरु ने आकर पत्थर दिखा दिया उस पर खुरपी को पैना लो। तुमने खुरपी पैना ली इधर उधर की घास को काट दिया, पेड़ दिखायी देने लग गया। इसी प्रकार गुरु की बताई उपासना द्वारा ज्ञान खड्ग को तीक्ष्ण करके ये अज्ञान जनित जितने शोक मोह आदि घास कूड़े हैं सब को काटकर तृष्णा से रहित बन जाओ, फिर निर्द्वन्द्व होकर चाहे जहाँ पृथ्वी पर विचरण करो, फिर चिन्ता की कोई बात नहीं रह जाती। ज्ञानी लोग इसी प्रकार तृष्णा का उन्मूलन करके ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव करते हुए इस शरीर में ही जीवन्मुक्ति का आनन्द लूटते हैं। इसलिये

मैं इस बात पर बारबार बल देता हूँ इसे अनेक बार दुहराता हूँ कि इस जगत् के जो आदि अन्त मे तत्व है वही मध्य में भी रहेगा। पहिले एक मात्र सत् ही था, सृष्टि के अन्त मे सब का सहार हो जायगा, केवल सत् ही शेष रह जायगा। जब आदि में भी सत् अन्त मे भी सत् तो फिर मध्य में असत् कसे हो सकता है। मध्य मे भी वह प्रकाशक और उपादान कारण रूप मे अवस्थित है। जिसे ऐसा विवेक नहीं है वह अज्ञानी है जिसे विवेक हो गया वही ज्ञानी है।

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! ऐसा ज्ञान है तो बड़ा कठिन।"

भगवान् ने कहा—"भैया, कठिन तो है ही, छुर का धार है। किन्तु गुरु की कृपा से उपासना द्वारा यह ज्ञान हो सकता है, अनेकों को हुआ है।" ज्ञान के अनेक साधन हैं, उनमे वेद पढना तपस्या करना, स्वधर्म का पालन करना, स्वय ससार की अनित्यता को देखकर अनुभव करना। जितने पुराने ऐतिहासिक राजे महाराजे तथा प्रसिद्ध पुरुष हो गये हैं, उन्होंने भागो को भोगकर अन्त में क्या निर्णय किया है नित्य प्रति की घटनाओं से क्या अनुमान किया जाता है इस प्रकार का और भी मीमांसा करते रहना ये मुख्य साधन हैं। शास्त्रों में जितने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपभोग शब्द तथा ऐतिह्य आदि प्रमाण बताये हैं उनकी कसौटी पर इस ससार को कसते रहना ये ही ज्ञान के साधन हैं। ससार में मेरे अतिरिक्त कुछ भा सत् नहीं है। खिलौने बनने से पहिले भी चीनी थी, खिलौने फूट गये तब भी चीनी रही और जब उसके अनेक नाम और अनेक आकृतियाँ बन गयीं तब भी उनमे चीनी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। देखो, सत्व, रज और तम इसके पूर्व क्या था निर्गुण। वह निर्गुण में ही हूँ, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों से पूर्व कौन अवस्था थी, तुरीया वह तुरीय मैं ही हूँ।

कार्य, कारण और कर्ता इन सब को तुम समन्वय और व्यतिरेक से विचार करो, तो एक मात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा।

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! यह हमने मान लिया कि सब आप से ही उत्पन्न होते हैं किन्तु उत्पन्न होकर तो आप से पृथक् हो ही जाते हैं, पिता से पुत्र उत्पन्न होता है, तो उसका अस्तित्व पृथक सभी देखते हैं?

भगवान् ने कहा—"नहीं, पिता से पुत्र पृथक् नहीं होता। श्रुति कहती है आत्मा ही पुत्र रूप मे प्रकट हो जाता है। प्राणी स्वयं अपने आप गर्भ रूप से पत्नी के उदर से पुनः प्रकट होता है इसीलिये उसकी जाया संज्ञा है। पुत्र पिता से पृथक् नहीं। जैसे अग्नि से विस्फुलिंग उत्पन्न होते हैं, तो वे अग्नि से पृथक् नहीं होते। जल से बबूले उत्पन्न होते हैं तरगे उत्पन्न होती हैं वे जल से पृथक् नहीं। बबूला उठने के पूर्व भी जल था, बबूला फूट गया पुनः जल हो गया, फिर बीच में नाम रूप के कारण उसकी पृथक संज्ञा हुई वह सत्य नहीं केवल कथन मात्र को ही है। इसलिये शास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है कि उत्पन्न हुई वस्तु अपने उत्पादक और प्रकाशक का रूप वही होती है। मिट्टी से उत्पन्न हुई वस्तुएँ मिट्टी से भिन्न न होगी। सूर्य नेत्र में प्रकाश प्रदान करता है, वह चक्षु इन्द्रिय प्रकाश से भिन्न नहीं है। यह जो विद्यमान न होने पर भी समुदाय रूप राजस सर्ग प्रतीत हो रहा है यह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है नहीं सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, तनिक भी नानात्व इसमें नहीं स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्द घन ही है। इन्द्रिय रूप में जो दिखायी दे रहा है वह भी ब्रह्म है। इन्द्रियों के उपभोग्य नाना विषयों के रूप मे जो दृष्टि गोचर होता है वह भी ब्रह्म है, मन के रूप मे जो मनन करता हुआ अनुभव होता है वह भी ब्रह्म है, पञ्च भूतों के रूप में जो यह दृश्य प्रपञ्च दिखायी दे रहा है यह भी ब्रह्म ही है। उद्धव! कहाँ तक तुम से कहूँ चित्र विचित्र रूपों

में जो भी कुछ भी दिखायी दे रहा है सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा यह निर्णय करे, कि यह जो प्रपञ्च भासित हो रहा है वह त्रिकाल में भी सत् नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अनात्म पदार्थों के बाध से अपने हृदय के सन्देह को युक्तियों द्वारा दूर करे। फिर विषयों से उपरत होकर आत्मानन्द में निमग्न हो जाय।

उद्धव ने पूछा—"महाराज! बाध कैसे करे।"

भगवान् ने कहा—"यही विचार कि यह शरीर आत्मा नहीं है। क्यों कि नाशवान् है। आत्मा अविनाशी है। इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं क्यों कि ये पर प्रकाशित हैं, आत्मा स्वय प्रकाश है। इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव आत्मा नहीं हैं, क्यों कि वे पर तन्त्र हैं आत्मा स्वय स्वतन्त्र है। प्राण, वायु, जल, अग्नि पृथिवी, आकाश, अन्नमयकोप, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, महत्व तथा प्रकृति इन सब में से कोई भी आत्मा नहीं, क्यो कि ये सब क सब जड हैं।

उद्धव जी ने कहा—'भगवन्! आप इन्द्रिय और मन आदि को जड बता रहे हैं, किन्तु दुःख का जड ता ये इन्द्रियाँ ही है, ये नाना विषयों को भोगती हैं, चित्त को चचल बनाती हैं।"

भगवान् ने कहा—"भैया! ये भीतरी बाहरी दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ अज्ञानी को ही दु ख देती हैं। जिसको आत्म ज्ञान हो गया है उसको ये गुणमयी इन्द्रिया क्या बिगाड सकती हैं। ये विक्षिप्त हो जायँ तो उसे ज्ञान से विचलित नहीं कर सकतीं। समाहित हो जायँ, तो उसे उससे अधिक आनन्द नहीं दे सकतीं। जो बीज भुन गया है उसे चाहे जितनी गीली खाद मे रख दो कितने पदार्थ डालो कोई भी उसमें से अकुर उत्पन्न नहीं करा सकता। ये जड वस्तुएँ अज्ञानी को ही चक्कर में डालती हैं। आत्मा तो आकाश के सदृश निर्लेप है, उसमें कितनी भी धूलि उडे, कितने भी जलकण व्याप्त हों, कितनी भी प्रकाश की सूक्ष्माति

सूक्ष्म किरणें छिटकती रहें कितनी भी वायु भर जाय किन्तु ये सब अपने कार्यों से तथा शीत, वर्षा और ताप ये ऋतुएँ अपने गुणों से आकाश को लिप्त नहीं बना सकतीं। आकाश पर इन सब का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। सूर्य के ऊपर से कितने भी बादल चले जायँ, कितने भी उसे चारों ओर से घेरे रहें जैसे वे उसकी कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते ऐसे ही ये प्राकृत पदार्थ आत्मा को आच्छादित नहीं कर सकते। आत्मा तो अहंकार से रहित अक्षर और निर्विकार है, वह जगत् के कारण भूत इन तीनों गुणों के मल से मलिन कैसे हो सकता है ?

उद्धव जी ने पूछा—"जब आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध है, तो दुस्संग मत करो ऐसे विधि वचन क्यों हैं ?"

भगवान् ने कहा—"ये सब वचन साधकों के लिये हैं। जब तक मुझ में दृढ़ अनुराग न हो, मेरी भक्ति द्वारा मन का मल रूप रजो गुण निवृत्त न हो जाय, तब तक इन माया रचित गुणों का संग त्यागना ही चाहिये। निरन्तर सत्संग और कथा श्रवणादि सत्कार्यों में लगे ही रहना चाहिये। इस प्रकार जो शास्त्रीय विधि से साधन करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है, फिर उसके लिये विधि निषेध का बन्धन नहीं रहता।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! शास्त्रीय साधनों द्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर साधक की कैसी अवस्था होती है, कृपया साधन और सिद्धावस्था के सम्बन्ध में आप मुझे बतावें।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने इस प्रकार प्रश्न किया तो भगवान् ने जिस प्रकार साधनावस्था से सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं और सिद्धावस्था में कैसी स्थिति हो जाती है इस प्रसंग को कहा उसे मैं आप सब को सुनाऊँगा। आप सब सावधान होकर श्रवण करें।

छप्पय

एक तत्व नित नयो विविध रूपनि महँ भासे।
वही प्रकाश प्रकाश्य दृश्य कूँ नित्य प्रकासे॥
आदि अन्त जग नाहिं मध्य में हूँ न रहेगो।
क्यौं ज्ञानी फिरि सोच करै क्यौं दुःख सहेगो॥
अन्वय अरु व्यतिरेक तें आत्म तत्व निश्चय करै।
जब तक दृढता होहि नहिँ तब तक शुभ साधन करै॥

साधनावस्था से सिद्धावस्था

(१३२२)

यथा मयोऽसाधुचिकित्सितो नृणाम,
पुनः पुनः सतुदति प्ररोहन् ।
एव मनोऽपक्वकषाय कर्म,
कुयोगिन विध्यति सर्वसङ्गम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

रोग उपेक्षा करि उभरि वह पुनि पुनि आवै ।
त्यों विषयनि आसक्त चित्त साधकहिँ डुबावै ॥
काम करम वश होहिँ स्वय स्वय कर्ता बनि जावै ।
जो कर्ता बनि जाय अन्त महँ सो फँसि जावै ॥
रहे कमल जल में यथा, त्यों ज्ञानी जग महँ रहे ।
करै प्रकृति वश काज सब, किन्तु न बन्धन दुख सहे ॥

यह सत्य है कि प्रचड प्रज्वलित अग्नि में गीला सूखा जो भी कुछ डाल दो वह तुरन्त भस्म हो जायगा किन्तु यदि अग्नि मद हो, तो वह घृत डालने पर भी बुझ जायगी। इसी प्रकार यद्यपि ज्ञानी

---

* श्री भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! जैसे कोई रोग है उसकी यदि भली भाँति लगकर चिकित्सा न की जाय, तो वह बार बार उभर कर मनुष्यों को कष्ट देता ही रहता है। इसी प्रकार अपक्व कषाय कर्मानामा सब में आसक्त हुआ मन कुयोगी को गिरा देता है।"

के लिये न तो कुछ शुभ है न अशुभ, न कोई विधि है न निषेध, न कर्तव्य है न अकर्तव्य। उसके समस्त शुभ कर्म ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म सात हो जाते हैं, किन्तु जिसका ज्ञान परि पक्व नहीं हुआ है, यदि वह ऐसा विधि निषेध रहित व्यवहार करेगा। तो उसका निश्चय ही पतन हो जायगा, क्योंकि इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर ही खुले हैं। इन्द्रियों को विषयों मे स्वाभाविक रुचि है। तनिक ज्ञान का आभास होने पर यह निश्चय कर ले, कि संसार मे कुछ अच्छा बुरा नहीं है। गम्या अगम्या का भेद, खाद्य अखाद्य का विश्वास, पेय अपेय का विधान अज्ञान जनक है, तो ऐसे निश्चय से पतन के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। अतः साधना वस्था में विधि निषेध का पालन करता हुआ मन को सयम मे रखे। इस मन का अन्त तक भी विश्वास न करे कि यह मेरे वश में हो गया। यदि सिद्धावस्था प्राप्त होने पर भी केवल लोग संग्रह के निमित्त साधकों का सा व्यवहार करता रहे, तो हानि ही क्या है। वैसे सिद्धावस्था होने पर शरीर का ही भान नहीं रहता, तो शुभाशुभ कर्मों का क्या भान रहेगा, फिर भी पूर्व स्वभावानुसार ज्ञानी से प्रायः लोक विरुद्ध दुराचरण होता नहीं। कदाचित हो भी जाय तो उसे पाप पुण्य स्पर्श भी नहीं करता। क्योंकि पाप पुण्य तो कर्ता की भावनानुसार ही होता है, जिसे कर्तापने का ही भान नहीं उसे कर्म जनित पाप पुण्य कैसे लगेंगे।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब उद्धवजी ने पूछा-'भगवन्! साधनों द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने पर कैसी स्थिति हो जाती है।" तो भगवान् ने कहा—'उद्धव! यद्यपि ज्ञानी का सत्सग कुसंग दोनो में कुछ भी भेद नहीं रहता। उसके लिये सत् असत् का भेद भाव ही नहीं शेष रह जाता। तथापि जब तक मेरी पूर्ण भक्ति प्राप्त न हो जाय, तब तक सदा सत्संग का ही आग्रह करता रहे।

बुरे लोगों के संग को हठ पूर्वक छोड कर संतो की सन्निधि में ही काल क्षेप करे।

उद्धवजी ने पूछा—"जब यह निश्चय हो ही गया कि संसार में सत् असत् कुछ है ही नहीं सर्वत्र एक ही आत्म तत्त्व व्याप्त है, तो फिर सत्सङ्ग के लिये इतना आग्रह क्यों किया जाय ?"

भगवान् ने कहा—"भैया वाचिक ज्ञान हो जाना दूसरी बात है, उसे दृढ करके धारण कर लेना नित्य के जीवन में परिणत कर लेना दूसरी बात है। तुमने किसी से सुन लिया छने हुए आटे को भिगोकर उसकी जलेबी बनती है उसे शर्करा के पाक में डुबो देते हैं। केवल इतना ज्ञान होने मात्र से ही तो कोई जलेबी नहीं बना सकता। जबतक उसके ज्ञाता के निकट बैठकर उसके बनाने का अभ्यास न कर ले बिना अभ्यास के केवल सुनकर बनाने लगेगा, तो विशुद्ध जलेबी तो बनेगी नहीं, कुछ का कुछ बन जायगा। इसी प्रकार जिन्होंने शास्त्र गुरु के बतायी हुई विधि के अनुसार अभ्यास तो किया नहीं है केवल इधर इधर से सुन लिया है कि ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है। शुभ अशुभ कुछ नहीं है।' इसी श्रुतज्ञान के आधार पर व्यवहार करेगा, तो निश्चय ही वह विषयो में फँस जायगा।"

उद्धव जी ने पूछा—"ऐसा महाराज! क्यों होता है? जब एक बार निश्चय हो गया तब तो पतन न होना चाहिये तब तो संसार बन्धन न होनी चाहिये।'

भगवान् ने कहा—'यह तो उसने विषय भरे मन से निश्चय किया है। कोई आदमी है उसकी मोरी में गाढी-गाढी कीच जम गयी है। ऊपर से उसने पनी बहा दिया और कह दिया 'मेरी मोरी तो स्वच्छ हो गई। तो उसके कहने से ही तो वह स्वच्छ न हो जायगी। जब भी उसमें किसी पशु का पैर जायगा या लकडी घुस जायगी तब ही दुर्गन्ध करेगी। जब तक उसकी कीच,को

जद मूल से निकाल कर न बहाया जाय, तब तक जब भी अव-सर मिलेगा तब ही वह दुर्गन्ध फैलाती रहेगी। किसी के फोडा हो गया है, उसके नीचे सडी हुई राध भर रही है। ऊपर से उसका मुँह बन्द हो गया है, तुम समझ लो हमारा फोडा अच्छा हो गया, तो तुम्हारे समझ लेने से ही तो वह अच्छा न हो जायगा। जब अवसर होगा उसमें से राध निकलने लगेगी। भर जायगा फिर फूट जायगा, इस प्रकार भरिया फूटा फोडा हो जायगा। जब तक उसे चिरवा कर भीतर से समस्त सडी हुई राध न निकाल दी जाय, तब तक वह अच्छा न होगा। इसी प्रकार ऊपर से तुम कह दो विषय सब मिथ्या है किन्तु जहाँ मन के सम्मुख विषय आये कि मन हठ पूर्वक उनकी ओर दौडेगा। उनमे आसक्ति बढेगी। आसक्ति से संसार बन्धन होगा। इसलिये जो अधकचरे साधक थोडा सा साधन करके मन मानी करने लगते हे। विधि निषेध की शृखला को तोड देते हैं, उनका अवश्य ही पतन हो जाता है वे बुरी तरह विषयों मे फँस जाते हैं। भ्रष्ट हो जाते है।"

उद्धव जी ने पूछा--"महाराज! साधक तो आपका भजन पूजन करता है। आपके मंत्र का जप करता है, कथा कीर्तन मे चित्त लगाता है, फिर भी उसे अहंकार क्यों हो जाता है, वह विषयो मे क्यों फँस जाता है?"

भगवान् ने कहा--"उद्धव! साधना मे त्रुटि हो जाती है। दस आदमी जहाँ स्वामी जी महाराज जा कहने लगते हैं, वहीं अहंकार आ जाता है। अहंकार आते ही देवता विघ्न कर देते हैं। पहिले साधारण प्रलोभन देते हैं। धनिक आकर पैरों पर पडते हैं राजे महाराजे आज्ञा मानते हैं। सुन्दरी युवती स्त्रियाँ आकर अत्यन्त भक्ति भाव प्रकट करती हैं। इतने पर भी साधक अपने पथ से विचलित नहीं होता, तो फिर स्वर्ग की अप्सरायें आती हैं

सारांश यह है कि जो जितनी ही दृढ़ता दिखाता है उसके लिये उतने ही उत्तम से उत्तम प्रलोभन आते हैं। यह देवताओं द्वारा विघ्न रूप में भोग समुपस्थित किये जाते हैं। देवताओं का भी क्या दोष है, साधनावस्था में जो अच्छा बुरा संकल्प उठ जाता है, उसे मैं किसी न किसी प्रकार से पूरा करा ही देता हूँ।"

उद्धव जी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! जिनके साधन में विघ्न हो जाते हैं, जो साधक प्रलोभन आने पर साधन छोड़कर विषयों में फँस जाते हैं, उनका फिर सदा पतन ही होता जाता है, क्या उनका इतने दिन का किया हुआ समस्त साधन व्यर्थ हो जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"कोई भी कल्याण कृत कार्य व्यर्थ नहीं होता। तुम किसी पुस्तक को आधी पढ़कर छोड़ दो। पुस्तक पढ़ने में तुम्हारा मन लगा हुआ है किन्तु बीच में कोई विघ्न आ गया, पढ़ना छूट गया, किन्तु फिर जब भी विघ्न हट जायगा संस्कार वश तुम फिर उस पुस्तक को वहीं से पढ़ने लगोगे। इसी प्रकार साधना करते करते कोई विघ्न आ भी जाय, तो विघ्न के हट जाने पर पूर्वाभ्यास के कारण साधक फिर से योग में ही प्रवृत्त होगा।'

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज, ये साधन में विघ्न होते क्यों हैं ?"

भगवान् ने कहा—"संसार में जितने भी काम होते हैं, सब में मेरी इच्छा ही प्रधान है। उसमें निमित्त कोई हो जाता है। जैसे मुझे किसी से कोई काम कराना है उसकी इच्छा न भी हो तो भी मैं उससे करा लेता हूँ। जैसे अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता था उससे मैंने करा लिया किसी काम में अपनी इच्छा कारण हो जाती है किसी में परेच्छा। बात एक ही है, किन्तु एक को स्वेच्छा प्रारब्ध कहते हैं दूसरे को परेच्छा प्रारब्ध।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! स्वेच्छा प्रारब्ध क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जिस काम मे अपनी ही इच्छा से प्रवृत्त हो वह स्वेच्छा प्रारब्ध जन्य विघ्न है। जैसे विश्वामित्र जी जप कर रहे थे, मेनका आयी। मुनि ने अपनी इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक उसे आश्रम में रख लिया इसे स्वेच्छा प्रारब्ध जनित विघ्न कहेंगे। मृकण्ड मुनि पराशर मुनि सौभरि मुनि तथा अन्यान्य मुनियों के विघ्न इसी श्रेणी के हैं। परेच्छा विघ्न वे होते हैं जिस में अपनी इच्छा तो होती नहीं परेच्छा क सम्मुख विवश हो जाना पडता है। जैसे कुन्ती नहीं चाहती थी किन्तु सूर्य भगवान् की इच्छा से मत्र के व्यर्थ न हो जाने के भय से उसे कुमारी अवस्था में ही कर्ण को जन्म देना पडा। महाराज ययाति शर्मिष्ठा में पुत्रोत्पत्ति नहीं करना चाहते थे किन्तु उसक अत्यत आग्रह से धम के भय से उन्हे ऐसा करना पडा। मनुष्य परिस्थितियों के वश मे होकर अपनी इच्छा न होने पर भी विवश हो जाता है, प्रवृत्त होने पर उसकी भी प्रवृत्ति हो ही जाती है। इस विषय में मैं आप को एक बडा ही सुन्दर दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक वडे तेजस्वी ब्राह्मण थे। वे सदाचारी सत्य निष्ठ कर्मकाडी थे। धन की भी उनको कमी नहीं थी। इसलिये वे सन्तान के लिय बडे लालायित रहते थे। साधु महात्माओं की भी बहुत सेवा शुश्रूषा किया करते। किन्हीं महात्मा ने उन्हे पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में उनके एक अत्यन्त ही सुन्दर पुत्र हुआ। माता पिता के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। वे अत्यन्त लाड प्यार से उसका पालन करने लगे। लडका अत्यन्त ही सुशील तथा कामदेव के समान सुन्दर था। देखने में वह राजकुमार के समान लगता था। ब्राह्मण के धन की तो कमी थी ही नही राजकुमारों के ही समान उसे अत्यन्त सुख से रखने लगे। माता की बडी इच्छा थी कि मैं पुत्र को बहू के साथ देखूँ, किन्तु उसकी यह इच्छा पग

नहीं हुई। बच्चा आठ वर्ष का भी नहीं हुआ कि वह इस संसार से चल बसी। अब बाप बेटा दो ही रह गये। पिता ने पुत्र को यथेष्ट धन व्यय करके पढ़ाया। जब उसकी अवस्था विवाह योग्य हो गयी, तो पिता ने विवाह के लिये बहुत आग्रह किया। उसने कहा—"पिताजी! मैं विवाह न करूँगा, यदि आप मुझे बहुत विवश करेंगे, तो मैं गंगाजी में डूब जाऊँगा।" पिता का इकलौता पुत्र था, उसकी ऐसी दृढ़ता देखकर पिता ने फिर उससे विवाह करने को नहीं कहा। अठारह वर्ष की अवस्था में लड़के ने एक बड़े विद्वान सन्यासी महात्मा से सन्यास की दीक्षा ले ली और सन्यासी महात्मा की ही सेवा में रहने लगा। घर का नाम उसका वासुदेव था। सन्यास का नाम पड़ा वासुदेवानन्द। उनके गुरु सिद्ध पुरुष थे उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य को सब प्रकार से साधन सम्पन्न बनाया योगाभ्यास भी कराया। कुछ काल में वृद्ध पिता का भी देहान्त हो गया। अब तो वे युवक सन्यासी निर्द्वन्द्व होकर भजन पूजन योगाभ्यास करने लगे। दस वर्ष पश्चात् गुरु देव भी इस धरा धाम को त्यागकर चल बसे। गुरु के वियोग से उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे तीर्थ यात्रा के लिये निकल पड़े।

तीर्थ यात्रा करते-करते वे एक राजधानी में पहुँचे। वहाँ एक छोटा राजा राज्य करता था। गंगा किनारे उसका बड़ा भारी मंदिर था, उसी में अतिथि शाला थी। आगत साधु महात्मा वहीं ठहरते और उनका राजा की ओर से भलि भाँति स्वागत सत्कार होता। ये युवक सन्यासी भी वहाँ आकर ठहर गये। गंगा किनारे स्थान बड़ा रमणीक था। उनका वहाँ मन लग गया। उन्होंने सोचा—"यहाँ ४, ६ दिन रहकर विश्राम करें। भिक्षा का भी सुपास था। पढ़े लिखे ऐसे सुन्दर सन्यासी को देखकर पुजारी जी ने भी उन्हें बड़े प्रेम से ठहराया।

राजा की एक बड़ी सुन्दरी लड़की थी। उसके अतिरिक्त उनके

कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिये चौदह वर्ष की अवस्था में उन्होंने समीप के ही एक साधारण भूमिधर के सुन्दर सुशील लडके से उसका विवाह करके उसे घर जमाई रख लिया। दो वर्ष तक वह लडका वहाँ रहा। एकबार काशी से कुछ सन्यासी आकर राजा के मंदिर में ठहरे, कुछ दिन रहकर वे चले गये। दूसरे ही दिन से वह लडका नहीं मिला। बहुत खोज की किन्तु उसका कहीं पता नहीं चला। प्रसिद्धि ऐसी हो गयी, कि उसे सन्यासी ले गये और चेला बना लिया। दस वर्ष में बात पुरानी हो गयी।"

अब जब यह युवक सन्यासी आया तो इसका रूप रंग उससे मिलता जुलता था। पुजारी को सन्देह हुआ कि हो न हो यह राजकुमार ही है। उसने पूछा—"स्वामी जी! आपको किस नाम से पुकारते हैं?"

स्वामी जी ने कहा—"वासुदेवानन्द।"

पुजारी जी ने पूछा—"आपका घर का नाम क्या था?"

स्वामी जी ने कहा—"घर का भी नाम वासुदेव ही था।"

संयोग की बात कि उस लडके का भी नाम वासुदेव ही था। पुजारी जी ने यह समाचार रानी जी के पास भेजा। रानी जी चुपके से लडकी के साथ दर्शन करने आयीं। उनको भी कुछ संदेह हुआ। लडकी से पूछा—"लडकी ने कह दिया—"हाँ, निश्चय ही वे ही हैं।"

राजा ने भी देखा। उन्होंने कहा—"वह नहीं हैं। फिर भी उन्होंने भोजन करने के लिये स्वामी जी को आमन्त्रित किया। सरलता से स्वामी जी चले गये। तभी राजा ने इस लडके की माता को बुलाया कि एक सन्यासी आया है वह तुम्हारे लडके की भाँति है।"

यह सुनते ही बुढिया दौडी आयी। उसने आते ही रोना आरम्भ किया—"हाय! बेटा तू सन्यासी क्यों हो गया।" अब

तो स्वामी जी घबड़ाये। वे बोले— माता जी ! आपको भ्रम हो गया है, मैं तो ब्राह्मण का बालक हूँ काशी मेरा घर है। किन्तु बुढ़िया मानती ही नहीं थी। लड़की भी रो रही थी। सब को निश्चय हो गया यही है। नाम रूप सभी तो एक है। अपने को छिपाने के लिये यह ब्राह्मण बनता है। राजा ने बलपूर्वक उनका सत्कार कराया कपड़े बदलवा दिये। पहरे मे रख दिया। क्या करते कहीं जा भी नहीं सकते थे। फँस गये चक्कर मे रहने लगे गृहस्थी बनकर। एक लड़का एक लड़की भी हो गये। एक दिन अवसर मिला तो चुपके से भाग आये। आकर फिर सन्यास लिया। फिर से अभ्यास करने लगे। यह परेच्छा प्रारब्ध था। वैसे होता है सब भगवान् की ही इच्छा से।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! आपका कथन सत्य है मनुष्य कर्म करने को विवश हो जाता है। नहीं करना चाहता तो भी स्वभाववश कर ही बैठता है। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में कर्ता को स्वतन्त्र बताया है, किन्तु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणी कर्म करने में परतन्त्र है। कोई इससे कर्म कराता है, कोई इसे बल पूर्वक घुमाता है। हाँ, तो महाभाग ! उद्धव जी ने भगवान् से फिर क्या प्रश्न किया ?"

सूतजी ने कहा—'भगवन् ! उद्धव जी ने भी यही बात पूछी, कि प्रभो ! यह प्राणी भले बुरे कर्मों को करता ही क्यों है ?"

इसपर भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जीव किसी अन्य की ही प्रेरणा से मरणपर्यन्त कर्म करता रहता है।"

उद्धव जी ने पूछा—'तब फिर महाराज ! ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर ही क्या रहा। ज्ञानी किसी की प्रेरणा से तप स्वाध्याय आदि करता है अज्ञानी चोरी जारी आदि कर्म करता है। दोनों ही कर्म करने में परतन्त्र हैं। फिर अज्ञानी की निन्दा क्यों की

जाती है, ज्ञानी की स्तुति क्यों की जाती है। दोनों ही तो एक से हैं, दोनों ही तो विवश होकर पर प्रेरणा से कर्म कर रहे हैं।"

भगवान ने कहा—"हाँ, सत्य है। ज्ञानी अज्ञानी दोनों ही किसी अन्य की प्रेरणा से कर्म करते हैं किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी दोनों मे एक बड़ा भारी अन्तर है। अज्ञानी अपने को ही उन कर्मों का कर्ता मान लेता है बन्धन या दु ख के कारण कर्म नहीं है, उनमे जो ममता हो जाती है वही दुःख का कारण है। धन दुःख का कारण मृत्यु नहीं है अपने की मृत्यु ही दुःख का कारण है धन नाश हो जाना दुख का कारण नहीं है। नित्य ही कितनों का धन नाश होता है। अपने ही नगर में बहुत से लोग लखपती से भिखारी बन जाते हैं उनका सर्वस्व नष्ट हो जाता है, किसी को दुःख नहीं होता। हाँ जिनका उनसे अपनापन है उन्हीं को दु.ख होता है। ज्ञानी और अज्ञानी कर्मों को तो समान भाव से करते ही हैं, किन्तु अज्ञानी अपने को ही कर्ता मानता है, ज्ञानी अपने को कर्ता नहीं मानता। वह सोचता है जीव का धर्म है कुछ करते रहना। बिना किये कोई क्षण भर ठहर ही नहीं सकता। होता है होता रहे, मैं तो कर्ता हूँ नहीं। जो अपने को कर्ता नहीं मानता वह बन्धन में कैसे फँसेगा। उसे दुःख क्यों होगा। एक व्यापारी है वह शरीर से तो कुछ करता नहीं। करते धरते सब उसके मुनीम हैं, किन्तु वह अपने को स्वामी मानता है इसीलिये व्यापार में जो घाटा होता है उसका दुःख भी उसे ही सहन करना पड़ता है। मुनीमों को अपने वेतन से काम। ऊपर से लोक दिखाने को हर्ष शोक भले ही प्रकट करें। उसके साथ ममता न होने से हानि लाभ में वे सम भाव से बने रहते हैं। इसी प्रकार अविवेकी पुरुष कर्तृत्वाभिमान के कारण बँध जाता है, विवेकी ज्ञानी पुरुष अपने को कर्ता न मानने से लौकिक विषयों में रहते हुये भी देह सम्बन्धी कर्म करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होता और तृष्णाहीन होकर

होकर नित्य आनन्द सागर में निमग्न बना रहता है चिन्ता उसके समीप फटकने भी नहीं पाती। दुःख उसे स्पर्श भी नहीं करता। विषय असत् है, एक मात्र आत्मा ही सत् इस प्रकार की भावना करते करते उसकी स्वरूप मे अवस्थिति हो जाती है। वह कर्ता भोक्तापने के अभिमान से सदा सर्वदा अपने को पृथक ही अनुभव करता है।

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! ऐसी स्थिति मे पहुँचा हुआ पुरुष क्या शारीरिक कर्म नहीं करता ?'

भगवान् ने कहा—'अरे, भाई! करता क्यों नहीं। भूख प्यास जो प्राणों के धर्म हैं वे तो जब तक शरीर है तब तक रहेंगे ही, किन्तु इन गुणों का आरोप वह आत्मा में नहीं करता। वह भोजन करता है, किन्तु उस भोजन को आत्मा के द्वारा खाया हुआ नहीं मानता। वह उठता है, बैठता है, चलता है, फिरता है, सोता है, मल-मूत्र त्याग करता है और भी स्वाभाविक क्रियाओं को करता है, किन्तु अपने को शरीर से सदा पृथक अनुभव करता है। उसे कोई कर्म बाधा नहीं पहुँचाते। वह सुख दुःख, हानि लाभ, जीवन मरण सबसे अपने को पृथक मानता है।

उद्धव जी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! ज्ञानी को सर्वथा इन इन्द्रियजन्य विषयों की प्रतीति नहीं होती ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया! होती क्यों नहीं, जब तक शरीर है इन्द्रियाँ है तब तक विषयों की प्रतीति होना स्वाभाविक है, किन्तु उसका विवेक उसके साथ रहता है वह उसे सदा सचेत करता रहता है, कि यह जो दिखायी दे रहा है यह सत्य नहीं मिथ्या है। अब जैसे किसी ने स्वप्न में सिंह देखा। उससे वह डर गया। निद्रा खुल गयी, किन्तु अभी तक शरीर रोमाचित है, नेत्रों से अश्रु बह रहे हैं, शरीर काँप रहा है, फिर भी उसे जाग्रत अवस्था प्राप्त होने के कारण यह ज्ञान है, कि जिस स्वप्न के सिंह

से मेरी यह दशा हो रही है, वह सर्वथा मिथ्या है, वह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता। इसी प्रकार ज्ञानी को जब तक ज्ञान नहीं हुआ था तब तक उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता था। इसकी घटनाओं से उसे दुख सुख होता था। अब जब ज्ञान हो गया, तो उसकी दृष्टि के सम्मुख संसार तो है ही, किन्तु उसे वह असत् समझता है उसका ये संसारी विषय कुछ अनिष्ट नहीं कर सकते। यदि उसे कोई वस्तु सत् प्रतीत होने भी लगती है, तो अनेक युक्तियों से नाना प्रकार के अनुमानों से असत् सिद्ध कर देता है। उसे आत्मा से भिन्न मानकर मिथ्या ठहरा देता है क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त जो भी कुछ है सब असत् है।'

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! आत्म ज्ञान होने पर वह आत्मा को छोड़कर सब का त्याग कर देता है ?"

भगवान् ने कहा—"त्याग तो तब संभव है जब आत्मा में मिलावट हो। किसी ने सीपी में चाँदी है यह निश्चय कर लिया और जब वह सीपी के समीप गया, तो वहाँ चाँदी नहीं केवल सीपी ही सीपी है। वह सीपी को उठा लाया, तो यह नहीं कह सकते कि उसे जो सीपी में चाँदी दीख रही थी, उसे तो छोड़ आया, केवल सीपी को ही उठा लाया। सीपी में तो चाँदी थी ही नहीं। उसमें होती तब त्याग संभव भी था। उसमें तो थी ही नहीं ज्ञान होने पर उसके भ्रम का निवारण हो गया। इसी प्रकार विविध भाँति के गुण कर्मों से युक्त जिन देह इन्द्रिय तथा विषय आदि अज्ञान जन्य पदार्थों को ज्ञान होने के पूर्व जो साधक आत्मा से संश्लिष्ट समझता था, अब उन्हीं को ज्ञान होने पर मिथ्या मानने लगता है। आत्मा से वे पृथक् होकर कहीं चले नहीं जाते। चले तो तब जाते जब आत्मा में मिले हुये होते। आत्मा में न तो ग्रहण है त्याग, वह तो नित्य, शुद्ध बुद्ध, असंग और निर्लेप है। अब जैसे एक भवन में अनेक वस्तुएं रखी हैं, अन्धकार के

कारण तुम्हें एक भी वस्तु दिखायी नहीं देती। उस भवन में सूर्य, नेउदित होकर प्रकाश फैला दिया तो उसमें रखी सब वस्तुएँ स्पष्ट दिखायी देने लगीं। सूर्य ने कहीं बाहर से लाकर उन वस्तुओं को रखा नहीं, केवल तुम्हारे नेत्रों पर जो तम का आवरण था वह हटा दिया। उसके हटते ही सब स्पष्ट दिखाई देने लगा। इसी प्रकार आत्म ज्ञान से अन्तःकरण पर छाया हुआ अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। आत्मा का यथार्थ रूप प्रकाशित हो जाता है। कोई विलक्षण वस्तु कहीं से आ नहीं जाती।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! आत्मा को कौन प्रकाशित करता है?"

भगवान् ने कहा—"आत्मा तो स्वय ही प्रकाशित है, उसे प्रकाशित कौन करेगा। जितना भी ससार में प्रकाश है, उसको भी प्रकाश आत्मा से ही प्राप्त होता है। वह स्वयं प्रकाश है। यह भी नहीं कि यह किसी से उत्पन्न होकर व्याप्त है, यह तो अनादि अजन्मा अनन्त और अप्रेय है। एक अद्वय है, महानुभाव तथा सर्वानुभव स्वरूप है। शब्दों में व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं क्योंकि यह वाणी का विषय है ही नहीं। मन और वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आते हैं, फिर भी मन, प्राण तथा इन्द्रियों को वहाँ से प्रेरणा प्राप्त होती है, उसी की प्ररणा से ये सब अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"जब आत्मा में यह सब नहीं है, तो यह निराधार की धारणा हुई कैसे। इस विकल्प का अवलम्ब क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई इसे अनेकों बार तो बता चुके इसका कुछ भी अवलम्ब नहीं है यह निरालम्ब है। यह चित्त का मोह है, मनका भ्रम है। रज्जु का सर्प है। बालकों को हाऊ बिलाऊ का भय दिखाते हैं। हम जब छोटे थे तो यशोदा मैया हम से कहा

करती थीं—"बेटा ! वन में अकेले मत जाना वहाँ हाऊ बिलाऊ हैं। जब हम बड़े हुए तो बारहू वन बारहू उपवन सब खोज डाले हमें तो आज तक हाऊ बिलाऊ मिले नहीं। इसी प्रकार यह संसार हाऊ बिलाऊ है। परम्परा गत व्यर्थ की रूढि है। जो लोग आत्मा में विकल्प मानते हैं उसका अपने आत्म स्वरूप मन के अतिरिक्त अन्य कोई भी आश्रय नहीं है।

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! यह ससार प्रत्यक्ष दिखायी देता है। समस्त व्यवहार इसी ससार से चल रहे हैं। पुराणों में नाना भाँति से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है इस सृष्टि की रक्षा के लिये धर्म की स्थापना के लिये आप अनेक अवतार धारण करते हैं। दुष्टों का दमन करते हैं मर्यादा स्थापन करते हैं। यह संसार असत् होता तो ये काय कैसे होते? यदि आत्मा के अतिरिक्त जीव और जगत् सत्य न होते तब तो समस्त साधन ही व्यथ है। द्वैत के बिना उपासना हो ही नहीं सकती। जब तक एक उपास्य और दूसरा उपासक न हो तब तक उपासना होगी कैसे?

भगवान् ने कहा—"तुम्हें वेद वाक्यो पर विश्वास नहीं। वेद में तो सर्वत्र आत्मा को एक अद्वय बताया है।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! विश्वास क्यों नहीं। विश्वास तो है, किन्तु वेद तो परोक्ष रूप से वर्णन करता है। वेद में रोचक भयानक यथार्थ तथा अर्थवाद सम्बन्धी नाना प्रकार के वचन है। जैसे स्त्री को कह दिया 'चन्द्रमुखी' अर्थात् जिसका मुख चन्द्रमा हो। किस स्त्री के मुख में चन्द्रमा जड़ा रहता है। यहाँ चन्द्रमुखी का अभिप्राय है चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख। इसी प्रकार वेद में वचन आते हैं, "यह यूप ही आदित्य है।" लकडी का बना हुआ यूप आदित्य कैसे हो सकता है। इसे तो छोटा बालक समझ सकता है कि खभा सूर्य नहीं है। यहाँ यूप को आदित्य कहने से

अभिप्राय इतना ही है, कि यह खम्भा जैसे सूर्य उज्वल है वैसे उज्वल है। केवल प्रशंसा परक उपमा मात्र में ही तात्पर्य है। किसी धनी को कह देते हैं तुम इन्द्र हो, वरुण हो कुबेर हो। साधारण पुरुष इन्द्र, वरुण, कुबेर के समान ऐश्वर्यशाली कैसे हो सकता है। केवल उसकी प्रशंसा में ऐसे श्रुत मधुर वचन कह दिये जाते हैं। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले यजमान को बढावा देने के के लिये कह देते हैं वह आत्मा तुम ही हो।" भला जीव आत्मा कैसे हो सकता है। ऐसे वचन केवल प्रशंसा परक हैं, अर्थवाद हैं। इनसे जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता।"

इसपर हंसते हुए भगवान् ने कहा—"उद्धव! मीमांसक लोग भी ऐसा ही कहते हैं, वे ऐसे वाक्यों को प्रशंसा परक मानते हैं। इधर जो ज्ञानी हैं वे भी सकाम कर्मों की प्रशंसा वाले वाक्यों को श्रुत मधुर प्रशंसा परक मानते हैं। वास्तव में तो यह नाम और रूप द्वारा ग्रहण किया जाने वाला पाञ्च भौतिक द्वैत बाधित ही है। ये जितने लौकिक अचित् असत् पदार्थ हैं सब मिथ्या हैं, निरानन्द हैं। परिणाम में दुख देने वाले हैं। अतः शास्त्रोक्त साधनों द्वारा एक मात्र मुझे ही सत्य जाने भक्तियोग द्वारा मुझे ही प्राप्त करने के लिये सदा साधक भजन करता रहे। साधनों में विघ्न सबको आते हैं, उन विघ्नों को देखकर हतोत्साह न हो। साधना करते करते विघ्न उपस्थित हो जायँ, तो उन विघ्नों को भी अनेक उपायों द्वारा शान्त करे।

इस पर उद्धव जी ने दीनता के साथ कहा—"भगवन्! जितने भी साधक हैं उन्हें साधन काल में विघ्न अवश्य आते हैं। यही नहीं जो जितना बडा साधन करता है उसे उतने ही भारी भारी विघ्न आते हैं। जिसे साधन काल में विघ्न न आवे उसे या तो जन्म सिद्ध जीवन्मुक्त समझना चाहिये या फिर उसका साधन दम्भ मात्र है। नहीं तो साधन क्षेत्र तो विघ्नों से ही आरम्भ होता

है और विघ्नों का जहाँ अन्त हो जाता है वहाँ साधन की भी समाप्ति होती है। अतः कृपा करके मुझे आप यह बतावें कि विघ्न आने पर वे किन किन उपायों से शान्त किये जा सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! साधनों के विघ्नों की कोई संख्या तो है ही नहीं। अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं और उनके अनेक ही शान्त करने के साधन हैं, उनमें से कुछ को मैं यहाँ तुम्हें बताता हूँ, उसी से तुम अन्य विघ्नों के शान्त करने का भी उपाय समझ सकते हो। साधन कंटकाकीर्ण है साधन में आने वाले विघ्न ही बड़े बड़े तीखे कंटक हैं। धैर्यवान् ही इस छुरा की धार वाले पथ को पार कर सकता है। इसलिये साधना में विघ्न आ जायँ तो कभी भी हतोत्साह न होना चाहिये। अरे भाई! जो घोड़े पर चढ़ेगा वही गिरेगा। जो घर मे बैठ कर चक्की पीसने वाली स्त्री है उसे तुमने कभी सुना है कि घोड़े से गिर गयी। एक विघ्न आ जाय उसे दूर करे दूसरा आ जाय उससे लड़े। इस प्रकार विचलित न हो। अब मैं तुम्हें साधन में आनेवाले विघ्नों को शांत करने के कुछ उपाय बताता हूँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् विघ्नों के शान्त करने का उपाय बतावेंगे उसे मैं आपसे कहूँगा।"

छप्पय

है विकल्प तें रहित आतमा चित्त मोह वश।
करै द्वैत को मान भेद करि राजस तामस॥
अर्थ वाद जो कहें, अज्ञ ते पंडित मानी।
भोगनि महँ सुख लहैं असत् कर्मनि अभिमानी॥
करै साधना योग की, विघ्न डिगावैं आइ कें।
तौ विघ्ननि कूँ नाश करि, बढ़ै फेरि हरषाइ कें॥

योग साधन के विघ्न और उनके उपाय

(१३२३)

योगधारणया कांश्चिदासनै र्धारणान्वितैः।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

होइ शीत संताप सूर्य शशि करै धारना।
वात आदि बढि जाइ करै आसननि कल्पना॥
होहिँ भाग्यवश पाप तिनिहि तप करिकें जारै।
वात पित्त कफ बढै औषधिनि तें संहारै॥
कोप क्रूर ग्रह करहिँ यदि, तौ मन्त्रनि को जप करै।
काम वासना यदि उठै, ध्यान सतत मेरो धरै॥

इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है। जिसके करने से साध्य की प्राप्ति होती है उसे साधन कहते हैं। उपकरणों का समावेश भी साधन में ही है जैसे हमें अन्न उत्पन्न

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! योग साधना में होने वाले विघ्नों में से किन्हीं विघ्नों को तो योग धारणा से, किन्हीं को धारणा सहित आसनों से, किन्हीं को तपस्या, मन्त्र तथा औषधि से साधक शान्त करे।"

करना है, तो उसके लिये भूमि गोड़ना बीज खोजना, बीज बोना, पानी देना ये सब साधन हैं और हल बैल आदि उपयोग में आने वाली वस्तुओं की साधन संज्ञा है। यदि साधन समुचित रूप से किया जाय और भाग्य अनुकूल हो, तो उपयुक्त साधनों के द्वारा सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होगी। साधन करने के समय जब तक साध्य की प्राप्ति न हो और बीच में कुछ विघ्न आजायँ, तो साधन को शिथिल न करना चाहिये समस्त शक्ति उस विघ्न के हटाने में लगानी चाहिये। जैसे अन्न प्राप्ति के लिये हमने खेत जोत कर उसमें बीज बो दिया, इतने से ही हमारा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। इतने मात्र से ही अन्न प्राप्त हो जाना चाहिये, किन्तु जब तक अंकुर बढ़ा नहीं, उसमें दाने पड़े नहीं। पड़े हुए दाने पके नहीं और पके हुए कट घर आये नहीं, इसके बीच में अनेकों विघ्न हैं कीड़े लग गये, मूसे निकले, दीमक, टिड्डी आ गयी कोई खेती को नष्ट करने वाला विघ्न हो गया, तो उसे हटाने का शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिये। जो आगत विघ्नों को हटाने के लिये कटि बद्ध नहीं होता, उनसे डर कर भाग जाता है, उसे इष्ट वस्तु की कभी प्राप्ति होती ही नहीं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से साधन में आने वाले विघ्नों को हटाने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! साधन काल में अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। जैसे शरीर में व्याधियों का हो जाना, साधन में संशय हो जाना, मन में काम क्रोधादि विकारों का हो जाना तथा अन्यान्य दैहिक दैविक, भौतिक और मानसिक विघ्नों का हो जाना इन सब विघ्नों को विविध उपायों से नाश करे।

उद्धव जी पूछा—"महाराज! किन किन उपायों से किन किन रोगों का नाश करे।"

भगवान् ने कहा—"साधना में सब प्रथम विघ्न तो आते हैं,

शारीरिक रोग। ऐसे बहुत ही कम साधक होंगे, जिन्हे साधन करने के समय भयकर रोग न हुए हो। इसी से साधारण लोग कहने लगते हैं—"अजी, साधना से शरीर रोगी हो जाता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! साधक तो साधना जैसा परम पवित्र कर्म कर रहा है, फिर उसे रोग क्यों होते हैं। 'पूर्व जन्म कृत पाप ही व्याधि रूप से आकर बाधा पहुँचाते हैं।"

भगवान् ने कहा—"देखो, श्रेय कर्मों में विघ्न हुआ ही करते हैं, इस शरीर का सम्बन्ध इसी जन्मों के कर्मों से थोड़ा ही है। जन्म जन्मान्तर के कर्म सचित रहते हैं। प्रारब्ध में जो सुख दुख है वे अवश्य भोगने ही पड़ेगे संचित कर्म भले ही भस्म हो जायें, क्रियमाण कर्म भले ही आगे के कर्मों का संचय न करे किन्तु प्रारब्ध का तो बिना भोग के क्षय होने का ही नहीं। इसलिये प्रारब्ध कर्मों के भोग के अनुसार रोग होते हैं। दूसरे जैसे मोरी कीच का घर है वैसे ही शरीर रोगों का घर है। मोरी रहेगी तो उसमें कीच बहेगी और जमा होगी। यदि तुम चाहो कि मोरी की समस्त कीच को निकाल कर उसे स्वच्छ और निर्मल कर दें तथा आगे से उसमे कीच न आने दे तो सर्व प्रथम तो तुम्हें मल जमा होने का द्वार बन्द करना होगा, कि अब इसमें कीच न आवे। फिर तुम्हें उसकी समस्त कीच को निकालना होगा अब तक तो वह दबी ढकी बनी हुई थी, इसलिये किसी का ध्यान नहीं जाता था। अब जितनी कीच निकालते हैं उतनी ही उसमें से दुर्गन्ध आती है। निरन्तर निकालते निकालते अन्त में वह स्वच्छ हो जाती है। इसी प्रकार जब तक मन ससार में फँसा रहता है, तब तक तो अपने दोष दीखते ही नहीं। जब तक भली भाँति खटिया पर न पड जायँ, तब तक सैकडों रोगों के रहने पर भी उनकी ओर ध्यान नहीं देते। पेट में अपच है अजीर्ण है, फिर भी भोजन किये बिना मानेंगे नहीं। सिर में पीडा है, पेट भारी है,

फिर भी राम राम करते ही रहेंगे। ऐसे कहाँ तक ठाली बैठे रहे। बिना किये मन भी तो नहीं लगता किन्तु जब संसार से चित्त को हटा कर परमार्थ साधन में लगाते हैं, तब सम्पूर्ण शरीर में दोष ही दोष दिखायी देने लगते हैं। अंग अंग में रोग प्रतीत होने लगते हैं। मैले कपड़े को जब तक न धोओ तब तक ध्यान ही नहीं जाता मैले का क्या मैला होना। किन्तु जब से खार आदि से स्वच्छ करते हैं तो जितना ही धोते हैं, उतना ही मैल निकलता है। साधन काल में रोग आवें तो घबड़ाना न चाहिये। पहिले तो आहार का मित और पवित्र करना चाहिये। अन्न को औषधि समझ कर खाना चाहिये। रोग वात प्रधान हो, तो कफ और पित्त प्रधान पदार्थ खाने चाहिये। पित्त प्रधान हो तो कफ वात प्रधान वस्तुओं का अधिक व्यवहार करना चाहिये कफ प्रधान हो तो गरम सूक्ष्म तथा चरपरे आदि वात पित्त प्रधान पदार्थों का अधिक सेवन करना चाहिये। कुछ अन्य उपयोगी औषधियों का भी प्रयोग करना चाहिये। ये आरम्भिक साधारण विघ्नों के उपाय हैं, यदि साधन करते करते धारणा तक स्थिति पहुँच गयी हो और फिर भी शीत तथा उष्णादि का प्रकोप हो, तो इन विघ्नों को धारणा से दूर करे।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज ! धारणा से कैसे विघ्नों को दूर करे।"

भगवान ने कहा—"जैसे कहीं पर्वत आदि में साधना कर रहे हैं। वहाँ हिम का अधिक प्रकोप है शीत के कारण साधन होता नहीं, इसलिये वहाँ सूर्य की धारणा करनी चाहिये। जिसकी धारणा करोगे उसी के स्वभाव का मन हो जायगा। स्त्री किसी कामी पुरुष की, तथा पुरुष किसी कामिनी की मन से धारणा करता रहेगा, तो उसका मन भी काम वासना युक्त बन जायगा।

इसी प्रकार सूर्य की उपासना करने से हिमकण गल जायेंगे और शरीर भी गरम हो जायगा। ऐसे ही चन्द्रमा की धारणा से कितनी भी उष्णता क्यो न बढ़ रही हो सब शान्त हो जायगी। इसी प्रकार सब प्रकार की धारणाओं से सब प्रकार के विघ्न हटाये जा सकते हैं। धारणायुक्त प्रत्येक आसन से भी दोषों की निवृत्ति होती है। जैसे कोई कार्य सिद्ध नहीं हो रहा है उसमें मन उद्विग्न है, तो सिद्धासन से बैठ कर किसी सिद्ध की धारणा करने से कार्य सिद्ध हो जायगा मन शान्त हो जायगा। अपने शरीर मे या आस पास दुर्गन्ध आ रही है, तो पद्मासन से बैठ कर पद्म मे धारणा करने से दुर्गन्ध हट जायगी कमल की जैसी सुगन्धि भर भर जायगी। इसी प्रकार अनेक धारणा युक्त आसनों से अनेक विघ्न दूर हो सकते हैं। कोई पाप बन गया, तो उसे व्रत उपवास आदि प्रायश्चितों से नाश कर दे।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! योग साधना मे तो अनाहार अत्याहार दोनों वर्जित हैं, फिर उपवासादि से योग मे आये विघ्नो की शान्ति कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"जिस समय प्रायश्चित्तादि करने हो उस समय उस योग साधना को स्थगित करके व्रतादि से पापो की शान्ति करे। यह आरम्भिक साधको के लिये। जिनकी साधना बढ़ी चढ़ी है, उनसे यदि कोई नियम विरुद्ध कार्य बन जाय तो उन्हें योग साधन के ही द्वारा उसे भस्म कर देना चाहिये उनके लिये अन्य व्रतादि प्रायश्चित्तो का विधान नहीं है। वास्तव मे तो सांसारिक भोगो के त्याग का ही नाम तप है। योगियो के लिये युक्ताहार विहार ही श्रेष्ठ तप है।

कुछ विघ्न ऐसे आ जाते हैं, जो मन्त्रों के जाप से ही शान्त हो जाते हैं। अपने गुरु मन्त्र का गायत्री मन्त्र का तथा सिद्धों द्वारा बताये मन्त्रों के जपने से तुरन्त शान्त हो जाते हैं। साधना

में सब से बडा विघ्न है काम। उस पर जितने विजय प्राप्त कर ली, उसने मानों सब को जीत लिया।"

उद्धव जी ने कहा—"हाँ, भगवन्! यह दुष्ट काम ही समस्त अनर्थों की जड है। यह काम बडे बडे ज्ञानी, ध्यानी, योगी तथा यतियो को पछाड देता है यह काम ही क्रोध का भी रूप रख लेता है। यह बडा भुक्खड है इसका पेट ही नहीं भरता। इसे कैसे जीता जाय।"

भगवान् ने कहा—"भैया, इस काम ने ब्रह्मादिक देवो को भी पथ से विचलित कर दिया है। शिव जी ने इसे भस्म अवश्य कर दिया, किन्तु काम न आकर उन्हें क्रोध आ गया। बात तो एक ही हुई। मेरे पास भी यह बद्रीनाथ मे आया था। मैंने इसे भी बुरा भला न कहा और न क्रोध किया। तब तो यह बडा लज्जित हुआ और मेरा बेटा बन गया। इसलिये जहाँ यह आ जाय, वहाँ मेरा ध्यान करने से यह लज्जित हो जाता है और वहाँ से चला जाता है। इस समस्त विघ्नों के राजा को जीतने के लिये मेरे प्रगाढ ध्यान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नहीं। मन मे जब और बुरे बुरे विचार उठने लगे या सासारिक बातें याद आने लगे तब किसी वीत राग महात्मा का ध्यान करना चाहिये। ऐसे महात्मा के दर्शन हुए हों उन पर अपनी श्रद्धा हो तो उनकी मूर्ति का ध्यान करे। अथवा प्राचीन योगेश्वर जैसे नारद, कपिल सनक, सनन्दन, सनातन, सनत् कुमार या और व्यास शुक आदि योगेश्वरों का ध्यान करे।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! मुझे कोई समस्त विघ्नों के नाश करने का सरल सुगम सा उपाय बता दें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरे नाम संकीर्तन से बढ़ कर विघ्नों के नाश करने का दूसरा कोई सरल सुगम साधन है ही नहीं। जब भी कोई विघ्न आ जाय, तब उच्चस्वर सेमेरे सुमधु

नामों का कीर्तन करने लगे। मेरे नाम के कीर्तन से समस्त विघ्न उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे सिंह की गर्जना सुनकर समस्त वन के जन्तु भाग जाते हैं इसलिये मेरे नाम संकीर्तन से बढ़कर और कोई सर्वोपयोगी साधन है ही नहीं "

उद्धव जी ने कहा--' भगवन् ! जैसे रोगों के आने के पूर्व ही उनके रुकने का उपाय करने से रोग नहीं आते। ऐसे ही विघ्नों के आने के पूर्व ही पहिले मन्त्र औषधियों द्वारा शरीर को युवावस्थापन्न सुन्दर और निरोग बना ले, तब अन्य साधना करे, तो फिर विघ्नों का भय न रहेगा।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, ऐसा भी लोग करते हैं, । प्रथम षट् कर्मों के द्वारा शरीर को शुद्ध करते हैं। अनेक लोग रसायनों से शरीर का कल्प करते हैं सफेद बालों को काले कर लेते हैं। जरावस्था को मिटा कर युवावस्थापन्न हो जाते हैं। जब उन्हें शारीरिक सिद्धियाँ अर्थात् निरोगता, स्वस्थता आदि प्राप्त हो जाती हैं, तो

अणिमा, गरिमा, लघिमा तथा ईशत्व वशित्व आदि सिद्धियों क प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, एक एक सिद्धि को प्राप्त करने म तीसों वर्ष लगा देते हैं, किन्तु बुद्धिमान पुरुष उनके इस काम की प्रशंसा नहीं करते।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवान्! बुद्धिमान् पुरुष इसकी प्रशंसा क्यों नहीं करते? आकाश में उड़ जाना, जल पर पृथिवी की भाँति चले जाना, अग्नि को उत्पन्न कर लेना तथा अदृश्य आदि हो जाना ये साधारण कार्य तो नहीं हैं।"

भगवान् ने कहा—"असाधारण ही कार्य सही, किन्तु मेरी प्राप्ति में इनका क्या उपयोग? यदि आकाश मे उड़ने से ही मेरी प्राप्ति हो जाती तो ये पक्षी सभी मुझे पालेते। यदि जल पर चलने से ही सिद्धि होती, तो ये मछलियाँ जो विपरीत धारा को काट कर चली जाती हैं और रात्रि दिन जल मे ही उठती बैठतीं, खाती पीती तथा सोतीं, जागती हैं ये सभी सिद्ध बन जातीं। इस विषय म एक बड़ा रोचक दृष्टान्त है।

एक कोई लड़का था, उसे योग सीखने का इच्छा हुई। किसी योगी के समीप जाकर उसने योग की शिक्षा प्राप्त की जब वह सीख कर अपने गाँव में आया, तो हल्ला हो गया—"अमुक बड़ा सिद्ध होकर आया है।" बहुत से लोग उसकी प्रशंसा सुनकर वहाँ एकत्रित हुए और उससे कुछ सिद्धि दिखाने की प्रार्थना करने लगे। सब के कहने पर उसने सिद्धियाँ दिखायीं। पहिले वह खड़ाऊँ पहिन कर भरी गंगा मे बिना नौका के पार हो गया। एक दूसरा आदमी था वह एक मल्लाह की नौका पर चढ़ कर पार हो गया।

फिर उसने सूखी लकड़ियों पर जल छिड़क दिया, वे तुरन्त जलने लगीं बुद्धिमान पुरुष ने एक लोहे के टुकड़े से चकमक को घिसा उससे अग्नि हो गयी। लोगों ने उस योगी की सिद्धि की

बड़ी प्रशंसा की और उस बुद्धिमान व्यक्ति से पूछा—"आपने देखा, कैसी अद्भुत सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त हो गयी हैं।"

बुद्धिमान् पुरुष ने कहा—"हाँ, तीन पैसे की सिद्धि तो हो गयी है।"

लोगों ने पूछा—"तीन पैसे की सिद्धि कैसे है ?"

बुद्धिमान व्यक्ति ने कहा—"देखिये वे तो खड़ाउओं पर चढ़ कर गये मैं दो पैसे की नौका करके उस पार चला गया। पार तो दोनों ही हो गये। उन्होंने पानी छोड़ कर सूखी लकड़ियों को जला दिया। मैंने पैसे के लोह चकमक से अग्नि जला दी। जो काम उनकी अग्नि से हो सकता है, वही मेरी जलाई हुई अग्नि से हो सकता है। इसलिये मेरी दृष्टि में उनकी सिद्धि का मूल्य तीन पैसे से अधिक नहीं है।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! इसीलिये बुद्धिमान पुरुष इन सिद्धियों के ही पीछे लगे रहने वालों का आदर नहीं करते। अब भला तुम ही सोचो, यह शरीर सहस्र दो सहस्र वर्ष बना भी रहा, तो क्या हुआ। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा। जो वृक्ष पर लगा है वह गिरेगा अवश्य। चाहे कच्चा ही गिरा दिया जाय या पक कर। इसीलिये बुद्धिमान योगी गण शरीर की सिद्धियों की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। जो विधिवत् यम नियमों का पालन करेगा। उसकी कायाकल्प तो हो ही जायगी। उसका तो शरीर स्वतः ही दिव्य बन जायगा। किन्तु ऐसा होने पर अभिमान न करे कि मुझे तो बड़ी सिद्धि मिल गयी। शरीर का फूल की भाँति हलका हो जाना, निरोग बन जाना जिह्वालोलुपता का लुप्त हो जाना, शरीर आकर्षक बन जाना ये सब बातें योग की आरम्भिक सीढ़ी हैं। ये सब बातें तो साधक को योग साधना करते समय प्रथम ही प्राप्त हो जाते हैं। जो इन्हें ही पाकर अपने को कृत कृत्य मानने लगते हैं, उनकी आगे

की उन्नति रुक जाती है, फिर वे आगे नहीं बढ़ सकते। इसलिये इन क्षुद्र सिद्धियों की ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज ! ऐसा उपाय बतावें, जिससे विघ्न उपस्थित ही न हों ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! विघ्न होते हैं कामना से। जो साधक निष्काम भाव से मेरा भजन करता है और निरन्तर स्वानन्दानुभव में मग्न रहता है उसको कभी विघ्न होते ही नहीं। यदि कदाचित् हो भी जायँ, तो वह उन्हें कुछ समझता ही नहीं। अतः सदा सर्वदा मेरा आश्रय लेकर योग साधना में लगे रहना चाहिये।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कह कर भगवान् चुप हो गये।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी ! इसके अनन्तर उद्धव जी ने भगवान से क्या पूछा ?"

सूत जी ने कहा—"महाराज ! इसके अनन्तर उद्धव जी ने भगवान् से अत्यन्त विनीत भाव से भागवत धर्मों का प्रश्न किया। उद्धव जी ने जैसे प्रश्न किया और भगवान ने जैसे उत्तर दिया इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

है विघ्नि के नाश हेतु प्रभु नाम कीरतन।
काम क्रोध नसि जायँ करे जो मेरो सुमिरन॥
नश्वर समुझै देह न जामें मोह लगावै।
यदि है जावै सुदृढ तऊ नहिं लखि इतरावै॥
सिद्धि पाइ कें योग की, मन न फँसै जग महँ कहीं।
जो आश्रय मेरो गहैं, होहिं विघ्न तिनकूँ नहीं॥

उद्धवजी का भक्ति सम्बन्धी पुनः प्रश्न

(१३२४)

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले-'विभो ! योग अति दुष्कर मानूँ ।
मैं तो लीला, धाम, नाम अरु रूपहि जानूँ ॥
कोई सुगम उपाय कृपा करि और बतावें ।
अनायास सब सिद्धि सरलता तें मिलि जावें ॥
कमल सरिस कोमल सुखद, परम मृदुल अति अरुनवर ।
गही शरन तव चरन की, जो कमला सन्तापहर ॥'

प्रश्न दो प्रकार के होते हैं एक तो मुख्य प्रश्न दूसरा पूरक

---

* श्री उद्धवजी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—"हे ईश ! मनीषी आपगण आपके उपकारों का प्रत्युपकार यदि करना भी चाहें तो ब्रह्मा के समान आयु पाकर भी नहीं कर सकते, क्योंकि आप प्राणियों के बाह्य और आन्तरिक मल को आचार्य तथा अन्तर्यामी रूप से दूर करके उन्हें अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं। इसलिये वे सब आप के उपकारों को स्मरण करके ही मन ही मन प्रमुदित होते रहते हैं।"

प्रश्न। पूरक प्रश्नों मे मुख्य प्रश्न के अत्यन्त समीपी सम्बन्ध की या दूर सम्बन्ध की बातें होती हैं। उन बातों को जान लेने पर मुख्य प्रश्न के समझने में सुविधा होती है, किन्तु पूरक प्रश्नों से मुख्य प्रश्न स्पष्ट हो जाय यह आवश्यक नहीं। कभी पूरक प्रश्नों से ही मुख्य प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। कभी पूरक प्रश्नों को सुनकर पुनः मुख्य प्रश्न को फिर से समझने की जिज्ञासा होती है। जैसे कोई भक्तियोग का अधिकारी है। उसका मुख्य प्रश्न तो भक्तियोग के सम्बन्ध में है। वक्ता ने समझाने के हेतु ज्ञानयोग, लययोग, कुंडलिनी योग, हठयोग तथा अन्यान्य योगों का भी वर्णन किया और उन योगों को समझने की भावना से प्रश्नकर्ता ने उन योगों में उठने वाली शंकाओं को भी किया, वक्ता ने उन शंकाओं का समाधान किया। सब योगों का वर्णन करते हुए सामान्य रूप के भक्तियोग का भी वर्णन हो गया। यदि वह केवल योगो की ही जानकारी करने वाला होता, तब तो उसे फिर प्रश्न करने की आवश्यकता ही न रहती, किन्तु यह तो भक्त है, भक्ति योग के ही सम्बन्ध में विशेष जानना चाहता है। इन प्रसंगोपात्त योगा का वर्णन सुनकर अब वह फिर भक्ति के ही सम्बन्ध के अपने मुख्य प्रश्न को दुहरायेगा। उद्धवजी भगवत् भक्त थे, अतः सब धर्मों को सुन लेने के पश्चात् उन्होंने भागवत धर्म का प्रश्न किया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् उद्धवजी को योग-चर्या का उपदेश देकर शान्त हो गये, तब उद्धवजी ने अत्यन्त ही दीन होकर गद्गद् वाणी से अत्यंत नम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! आपने इस दीन हीन मति मलीन अपने पतित दास पर अत्यन्त अनुग्रह की जो मुझे ऐसी ऐसी रहस्य की बातें बतायीं, किन्तु प्रभो! आपने जिस योगचर्या का वर्णन किया, उसका आचरण तो यम नियमादि साधन सम्पन्न

कोई उच्चकोटि का जितेन्द्रिय अधिकारी ही कर सकता है मुझ जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिये तो ऐसी योगचर्या दुःसाध्य ही है। मैं तो कोई ऐसा सरल सुगम सर्वोपयोगी सीधा सादा साधन चाहता हूँ, जिससे बिना इतना बखेड़ा किये हुए सुगमता से अनायास ही सिद्धि प्राप्त हो सके।

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! हत्या की जड तो यह मन है। यह जब संसार मे लग जाता है, तो नाना संकल्प विकल्प करने लगता है। चित्त की विभिन्न नाना वृत्तियाँ है वे भिन्न भिन्न विषयों में दौड़ती रहती है। उन चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों का निरोध करके मुझ मे लगा देना यही सब योगों का लक्ष्य है और यही समस्त साधनों का सार है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! यही तो मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। बहुत से योगिजन मन को वश मे करने का ही सतत प्रयत्न करते रहते हैं, किन्तु जैसे वायु को गठरी मे बाँधकर बहुत दिनों तक रखना कठिन है वैसे ही चित्त को एकाग्र करना उसका निग्रह करना अत्यन्त कठिन है। प्रयत्न करते करते बहुत से साधक दुर्बल हो जाते हैं और जब यह वश में नहीं होता, तो फिर इधर से उदासीन हो जाते हैं। वे किंकर्तव्य विमूढ बनकर साधन रहित बन जाते हैं। इसके विपरीत जो सारग्राही भक्तजन चित्त के पीछे व्यग्र नहीं होते, किन्तु आप विश्वनाथ कमल नयन के चारु चरणारविन्दों का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, उन पाद पद्मों को ही सब कुछ समझकर उन्हीं का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें कुछ भी प्रयास नहीं होता। व अनायास ही आप की माया से परे हो जाते हैं, किन्तु जिन्हें अपने कर्मों का अभिमान है कि हम षटकर्म करके नाडियों को शुद्ध कर लेंगे, खेचरीमुद्रा करके अमृत पान कर लेंगे, हमे भक्ति फक्ति से क्या लेना देना, यह तो स्त्रियों तथा मूर्खों के लिये उपाय है।

ऐसे अभिमानी पुरुषों की मति आपकी माया के कारण विपरीत बन जाती है। न उन्हें कभी आन्तरिक शान्ति मिलती है और न वे सुखी ही होते हैं। सदा उद्विग्न बने रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"अरे भैया! भक्तों की क्या बात है। भक्तों ने तो मुझे बिना मूल्य क्रय कर लिया है। मेरे भक्त तो मुझे जैसा भी नाच नचाते हैं वैसा ही नाच मैं उनके अधीन होकर नाचता हूँ।"

आँखों में आँसू भरकर गद्गद् कण्ठ से उद्धवजी कहने लगे—"क्यों न हो, भगवन्! आपका नाम ही भक्त वत्सल है, आप अपने शरणागतों को आत्म समर्पण कर देते हैं। हे सर्व सुहृद्-अच्युत! भक्तों के वश होकर आप न करने योग्य कार्यों को करते हैं। उनके कुल शील तथा चरित्र की ओर भी ध्यान नहीं देते। नहीं तो ब्रह्मा, इन्द्रादि देवगण, बड़े बड़े लोकपाल गण अपने मणिमय दीप्तिमान मुकुटों से डरते डरते आपके पाद पद्मों में प्रणाम करते हैं। ऐसे अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली आपने रामावतार में वानर भालुओं से मित्रता की। आप वृक्ष के नीचे मूल में बैठते थे और वे आपके सिर पर ऊपर चढ़कर बैठते थे। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं आप तो अपने अनन्य-शरण सेवकों के सर्वथा अधीन ही हो जाते हैं। इसलिये भक्त गण भोगों की इच्छा न करके आपके चरणों का चिन्तन करते रहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! भक्तगण बड़ा ही दुष्कर्म करते हैं, वे संसार के सभी सम्बन्धियों की चिन्ता छोड़ कर एक मात्र मेरी ही चिन्तन करते रहते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! आप से बढ़कर जीव का सच्चा सुहृद् कौन होगा। आप ही समस्त चराचर प्राणियों के आत्मा हैं। प्यारे से प्यारे और दुलारे से दुलारे आप ही हैं। आप ही

सबके माता, पिता, भाई, गुरु सुहृद्, स्वामी और सर्वस्व हैं। जो आपकी शरण मे आ जाते हैं उनकी समस्त कामनाओं को आप पूर्ण करते हैं। उनके योग क्षेम का स्वय प्रबन्ध करते हैं। ऐसे परम उपकारी को भूलकर कौन मूर्ख इन नाशवान् क्षणभंगुर सम्बन्धियों से स्नेह करेगा। इन ससारी सम्बन्धियों से अधिक से अधिक ससारी भोग ही प्राप्त होंगे। ये ससार के भोग मोह को उत्पन्न करने वाले और परिणाम में दुःखद हैं। इन अनित्य भोगों का आप के सम्मुख अविवेकी ही इच्छा करेगा। जिसे तनिक भी विचार होगा, वह तो आपके पाद पद्मों के पावन पराग को पाकर ही परम प्रमुदित होगा। हमने तो आपके चरण कमलों का ही आश्रय ले लिया है, अब हमारे लिये दुर्लभ कौन सी वस्तु है ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया ! भक्तगण तो अपना कुटुम्ब परिवार घर द्वार तथा सर्वस्व छोड़कर मेरा ही चिन्तन करते हैं, उन्होंने तो अपने निस्स्वार्थ निष्कपट प्रेम से मुझे क्रय कर लिया है, उनके उपकार का मैं कहाँ तक बदला दे सकता हूँ ?"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो ! यही तो आपकी भगवत्ता है, भक्तों के प्रति इतनी कृतज्ञता प्रकट करना यही तो आपके कृपालुपने की पराकाष्ठा है, नहीं तो हे सच्चिदानन्द घन ! सर्व समर्थ ! हे जगदीश्वर ! अज्ञों की बात तो छोड़ दीजिये, जो विज्ञ हैं विवेकी हैं ब्रह्मवेत्ता हैं, यदि उन्हें अनन्त ब्रह्माओं की बराबर आयु प्राप्त हो जाय और इतनी बड़ी आयु से वे आपके उपकारों का बदला चुकाना चाहें तो नहीं चुका सकते। आप के अनन्त उपकारों की थाई सीमा ही नहीं। आपने कैसा सुन्दर सर्व साधन सम्पन्न शरीर प्रदान किया। जीव पाप में प्रवृत्त होता है तो आप अन्तर्यामी रूप से उसे रोकते हैं। गुरुरूप रखकर शिक्षा दीक्षा देते हैं। देहधारियों के भीतर बाहर के मलको धोकर उसे स्वच्छ निर्मल

बनाते हैं। उससे अपने अनुपम अद्भुत गुण और नामों का कीर्तन करते हैं। आपके एक या दो या दस बीस उपकार हों तो उनकी गणना भी की जाय। भक्तगण तो आपके उपकारों का स्मरण कर करके ही रुदन करते रहते हैं। उन्हें उनके स्मरण में ही ब्रह्मानंद सुख का अनुभव होता है।

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ये सब बातें तो हो गयीं। अब यह बताओ कि तुम चाहते क्या हो? कुछ तुम्हें और पूछना है?"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आपने सब कुछ उपदेश कर दिया। योग, सांख्य, भगवद्भक्ति तथा भागवत धर्मों का भी निरूपण किया, किन्तु प्रभो! ये सब उपदेश ऐसे मिल जुल गये, कि इनमें से भागवत धर्मों को पृथक करना बड़ा कठिन कार्य है। सबके अधिकारी पृथक् पृथक् होते हैं। जो जिस साधन के अधिकारी होते हैं, उन्हें वह साधन सरल प्रतीत होता है, अन्य साधन कठिन लगते हैं। जो योग का अधिकारी है उसे योग साधन समझने में ही सरलता तथा सुविधा होती है। प्रभो! मैं तो एकमात्र आप के चरणों का आश्रय ग्रहण करना ही जानता हूँ। जो आप के भक्त हैं आप में सदा अनुरक्त हैं, वे कैसे व्यवहार करते हैं, कौन सा साधन करते हैं। कृपा करके मुझे स्पष्ट रूप से भागवत धर्मों को समझा दें। विशुद्ध भागवत धर्मों की एक संक्षिप्त सी तालिका बना दें। जो आपकी भक्ति करना चाहता है उसके मुख्य मुख्य कर्तव्य क्या हैं। अन्त में जो सार सिद्धान्त होता है उसी का तत्व रूप से उपदेष्टा बताते हैं। उपसंहार में वक्तव्य का यथार्थ मर्म जता देते हैं। अब आप उपसंहार में मुझे भागवत धर्म ही बतावें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मैं कई बार तो तुम्हें भागवत धर्मों के सम्बन्ध में बता चुका, किन्तु देखता हूँ भागवत धर्मों को सुनते सुनते तुम्हारी तृप्ति नहीं होती। यह बड़े सौभाग्य की बात

है कि तुम्हारी भागवत धर्मों मे प्रीति तथा अत्यंत अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है। मेरी भक्ति का प्रधान लक्षण यही है कि मेरी कथा सुनते सुनते तृप्ति न हो। अच्छी बात है अब मैं तुम्हे फिर अत्यत संक्षेप मे भागवत धर्मों का सुनाता हूँ। तुम इन्हे दत्त चित्त होकर श्रवण करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जिस प्रकार उद्धवजी को भागवत धर्मो को सुनाया, उस प्रसङ्ग को मैं आप से आगे कहूँगा।

छप्पय

सुनिकें उद्धव विनय विहँसि बोले बनवारी।
है अति पावन परम विमल मति तात तुम्हारी॥
विषय वासना फँस्यो व्यरथ वय प्रानी खोवे।
मम धरमनि अनुराग भाग्य ही तें प्रिय होवे॥
अब फिरितें अपने धरम, कहूँ सुमङ्गल शान्तिमय।
करि जिनको आचरन शुभ, करै मृत्यु पै नर विजय॥

—::o::—

भागवत धर्म निरूपण

(१३२५)

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान् ।
यान्छ्रद्धया चरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ८ श्लो०)

छप्पय

मोमें मन चित लाइ करै सुमिरन मेरो नित ।
असन बसन जो करम करै तिनिकूँ मेरे हित ॥
रहैं भागवत जहाँ तहाँ ही समय बितावे ।
भक्तनि को नित करै आचरन तिनि गुन गावे ॥
मेरे पर्वनि पै करै, महामहोत्सव प्रेम तें ।
धूमधाम और ठाठतें, करै काज सब नेम तें ॥

भगवान् की सेवा पूजा करना, भागवत धर्मो का आचरण करना कैसा सुखकर काय है। भागवत धर्म विशाल धर्म है, इसमें संकीर्णता नहीं, अनुदारता नहीं। यह सार्वभौम धर्म है, मानव

* श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अच्छी बात है मैं फिर से तुम्हें अपने उन भागवत धर्मों को सुनाता हूँ, जो अत्यन्त ही मङ्गलमय हैं और जिनका श्रद्धा सहित आचरण करने से प्राणी दुर्जय मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।"

स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है। इसमें मन, इन्द्रिय, तथा प्राण सभी को सन्तोष होता है। इसमें न तो भोगों को त्यागने की आवश्यकता है, न नाक कान मुख को बन्द करके छटपटाने की आवश्यकता है। इसमें केवल भाव बदलने की आवश्यकता है, तुम अपने सब कर्मों को भगवान् के निमित्त करो, भगवत सम्बन्ध से ही कार्यों में प्रवृत्त होओ। यही नहीं कि तुम रसना इन्द्रिय पर विजय करने को कड़ुये कसैले पदार्थों को हठ पूर्वक कठ से नीचे उतारलो। भागवत धर्म प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने की सम्मति नहीं देता। तुम सुन्दर से सुन्दर पदार्थ बनाओ, उत्तम से उत्तम व्यंजनों को तैयार करो, किन्तु करो भगवान् के निमित्त। उन्हें उन्हें बनाकर श्रद्धाभक्ति पूर्वक भगवान को भोग लगाओ, भोग लग जाय तो यथेष्ट पेट भरके प्रसाद पाओ। भागवत धर्म यह नहीं कहता तुम किसी मनुष्य का मुख मत देखो सर्वसंग परित्याग करके घोर बनमें—विविक्त देश में—वास करो। जन संसर्ग से सदा दूर ही रहो। तुम यथेष्ट जन संसर्ग करो। चाहे जितने लोगों के बीच मे रहो, किन्तु रहो कथा, कीर्तन और भगवान् के उत्सवों के ही निमित्त से। जहाँ कथा कीर्तन नहीं, भगवान् के सम्बन्ध का उत्सव न हो वहाँ तुम पैर भी न रखो। सारांश यह कि भगवान् के ही निमित्त सब चेष्टायें करना यही भागवत धर्म का सार सिद्धान्त है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने अत्यंत दीनता के साथ प्रेम पूर्वक प्रभु से प्रश्न किया, तब जगत् मे नित्य नयी क्रीड़ा करने वाले ईश्वरों के भी ईश्वरों के भी ईश्वर त्रिदेव रूप नटनागर अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुरमधुर मंद मंद मुसकान के सहित उनसे कहने लगे—"उद्धव! अच्छी बात है अब मैं फिर से तुम्हें भागवत धर्मों के सम्बन्ध मे सुनाता हूँ।

भक्तो के लिय सर्वप्रथम बात तो यह है कि वे जो कुछ करें मेरे ही निमित्त करे। समस्त कर्म मेरी सेवा की भावना से ही किया करे।"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज! कह देना तो बडा सरल है, किन्तु इसका आचरण करना अत्यत ही कठिन है। यह मनुष्य प्राणी इतना अभिमानी है, कि इसके रोम रोम मे अभिमान भरा हुआ है कुछ भी करता है, तुरन्त अभिमान आ जाता है, यह मैंने किया। ये मेरा है यह मेरे सुख के लिये बना है। उस समय आपका तो ध्यान ही नहीं रहता।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! तुम्हारा कथन सत्य है। किन्तु शनै शनै अभ्यास करने से चित्त मुझमें लगने लगता है। मन की गति को मुझ में ही लगा दे, मेरा ही चिन्तन करे। जब मन से मुझमे अनुराग होने लगता है, तो फिर मेरी सेवा पूजा अच्छी लगने लगती है। फिर इस भाव को बढाने का प्रयत्न करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! यह भाव बढे कैसे?"

भगवान् ने कहा—"देखो, संग का बडा प्रभाव पडता है। अपने सङ्गी साथी जो गौरव के साथ खाते हैं उसे स्वय भी खाने की इच्छा होती है। जिन वस्त्रों को पहिनकर वे गौरव का अनुभव करते हैं, उन वस्त्रों को पहिनने की अपनी भी आन्तरिक लालसा होती है, जो काम करके वे प्रसन्न होते हैं उसे हम स्वय भी करना चाहते हैं। विषयियों को विषय वार्ता ही प्रिय है, भोग विलास की वस्तुओं की प्रचुरता से ही वे अपने को गौरवान्वित समझते हैं अत उनके समीप रहने वाले भी वैषयिक वस्तुओं के लिये सतत प्रयत्न शील बने रहते हैं। इसलिये भागवत धर्म में अनुराग रखने वालों को विषयियों का सहवास कभी भूलकर भी न करना चाहिये। जहाँ भगवान् की सेवा पूजा मे निरत भगवत्

भक्त रहते हैं। वहीं रहना चाहिये उनके ही बीच में समय बिताना चाहिये। उनका साथ करने से उनकी दिन चर्या देखने से उनका अनुकरण करने की स्वाभाविक इच्छा होने लगती है। वहाँ रहकर चुपचाप बैठा न रहे। मेरी तथा मेरे भक्तों की कथाओं को सुनता रहे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! आपकी कथा सुनना तो उचित ही है, किन्तु आपके भक्त तो मनुष्य ही हैं। बहुत से असुर राक्षस भी आपके भक्त हो गये हैं, उनकी कथा सुनने से क्या लाभ ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरे भक्त तो मुझसे भी श्रेष्ठ हैं। मैं तो भक्तों की चरण रज के लिये सदा उनके पीछे पीछे घूमता रहता हूँ। मेरे भक्त चाहे मनुष्य हों, सुर हों, असुर राक्षस कोई क्यों न हो, उन सब के चरित्रों को श्रद्धा सहित श्रवण करना चाहिये और उनके भक्तिमय चरित्रों का अनुकरण भी करना चाहिये। उन्होंने मेरी प्राप्ति के लिये जैसे आचरण किये हैं वैसे आचरण करने चाहिये। तथा मेरे सम्बन्ध से महोत्सव करने चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! आपके सम्बन्ध से उत्सव कैसे करे ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे मेरे जन्माष्टमी, रामनवमी, नृसिंह चतुर्दशी, वामन द्वादशी तथा अन्यान्य पर्व हैं, उनको सबके साथ मिलकर अत्यन्त धूम धाम से मनावे। नगर में मेरी सवारी निकाले कथा, व्याख्यान, नाटक, नृत्य, गायन तथा अन्यान्य उत्सव सम्बन्धी कार्य करावे। नाना भाँति के बाजे बजवाये। राजा महाराजाओं के उचित ठाठबाट से सवारी निकलवायें नगर कीर्तन करावे। इस प्रकार भगवत् सम्बन्धी महोत्सव करने

से सबको लाभ होता है, देश का देश पावन बन जाता है। मन को भी शुद्ध करे। भेदभाव को हृदय में स्थान न दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! इसके लिये क्या करे?

भगवान् ने कहा—"इसके लिये सबमें समभाव रखे। अपने चित्त को भक्ति के साधनों द्वारा स्वच्छ और निर्मल बनावे। सदा यह भावना करता रहे, कि सब प्राणियों के तथा मेरे भीतर एक ही आत्मा है। सब में मेरी भावना रखे। आकाश के के समान सर्वत्र मुझे व्याप्त समझे। जैसे आकाश सब के भीतर बाहर निरावरण रूप से अनुस्यूत है वैसे ही मुझे माने। ज्ञान दृष्टि से विचार पूर्वक मुझे ही सबमें माने। सबका मेरी ही बुद्धि से सत्कार करे। यह उच्च है यह नीच है यह ब्राह्मण है यह चोर है यह सदाचारी है, यह भक्त है यह अभक्त है, यह सूर है यह विस्फुलिंग है, यह क्रूर यह कृपालु है ये सब बाह्य भेद हैं आत्मरूप से तो सब में एक ही तत्व है एक ही मेरी शक्ति सर्वत्र समान रूप से कार्य कर रही है इसलिये किसी की निंदा न करे किसी को अपने से अधम मान कर अहंकारवश उसका तिरस्कार न करे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! बहुत प्रयत्न करने पर भी अहंकार आ ही जाता है, दूसरे को हेय समझ ही लेते हैं, इसके लिये क्या उपाय करें।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, भैया! स्वभाववश ऐसा हो ही जाता है, किन्तु ऐसा होना न चाहिये। निरन्तर यही ध्यान रखना चाहिये सबमें एक ही आत्मा है, सबमें सदा मेरी भावना करते रहने से शनैः शनैः भेदभाव हटता जाता है और मनुष्य के स्पर्धा, असूया, तिरस्कार के भाव तथा अहङ्कार आदि दुर्गुण हटते जाते हैं। कहो तो समभाव स्थापित करने के लिये एक अत्यन्त सुगम उपाय बताऊँ, यदि तुम कर सको तो?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! ऐसा ही उपाय बतावें। यह मन तो बड़ा चचल है। मन से भाव करते हैं, कुछ काल में भूल जाते हैं। मन पर विचारों का शीघ्र स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता।"

भगवान् ने कहा—"जिसे जीवन में समता का अभ्यास करना हो, वह जिसे भी देख उसी को भूमि मे लोटकर प्रणाम करे चाहे वह पण्डित हो मूर्ख हो, ब्राह्मण हो अन्त्यज हो, अपना स्वजन हो अन्य कोई हो, सज्जन हो दुर्जन हो, अपनी हँसी उड़ाने वाला हो स्तुति करने वाला हो। मनुष्य को ही नहीं। कुत्ता बिल्ली, गौ गधा कोई भी क्यों न हो, बिना भेद भाव के सबको साष्टाङ्ग प्रणाम करे प्रणाम करते समय मन से यह भावना करे कि इसमें परमात्मा हैं। गधारूप भगवान् को प्रणाम है चाण्डालरूप भगवान् को प्रणाम है, विप्ररूप भगवान् को प्रणाम है। इस प्रकार मन, वाणी और शरीर से आत्मभावना करके सबको नमन करे। इससे अति शीघ्र समत्व भाव स्थाई हो जायगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! तब तो दिन भर प्रणाम करते ही बीतेगा ?"

भगवान् ने कहा—"यह तो और भी अच्छी बात है। अरे भाई मनुष्य अपने इष्ट की प्राप्ति के लिये क्या क्या नहीं करते। देखो, भृत्य कुछ पैसों के पीछे अपने शरीर को बेच देता है। आठों प्रहर स्वामी की सेवा में संलग्न रहता है। राजकर्मचारी कुछ पैसों के लिये दिन भर बैठे बैठे काम करते रहते हैं। व्यापारी कुछ पैसों के लिये प्रातःकाल से लेकर आधीरात तक गद्दी पर डटा रहता है। वहीं भोजन मँगा लेता है, दिन भर झूठ बोलता और बिना विश्राम के लगा रहता है। परीक्षा के दिनों में छात्र शयन भोजन तक को भूलकर पढ़ते रहते हैं। जब

क्षुद्र स्वार्थों के लिये लोग व्यर्थ के संसारी कामों में लगे रहते हैं, तो यह तो महान् कार्य है। जब भी जिस जीव को देखे उसे ही मन से भगवान् का स्वरूप समझ कर साष्टाङ्ग कर ले। इस बात का ध्यान भी न रखे कि लोग हमारी हँसी उड़ावेंगे, हमें पागल बतावेंगे। हँसी उड़ाते हैं तो उड़ाते रहें, पागल बताते हैं तो बताते रहें। लोग जुआरियों को कितना बुरा भला कहते हैं। राज्य की ओर से भी उन्हें दण्ड दिया जाता है। कारावास भेज दिये जाते हैं। किन्तु वहाँ जाकर भी वे खेलते हैं। किसी की बात नहीं मानते। जब एक क्षुद्र व्यसन के पीछे वे इतने प्रमत्त हो जाते हैं, तो यह तो सबसे बड़ा लाभ है। लाक लाज को तिलाञ्जलि देकर सबको प्रणाम करे।"

उद्धवजी ने कहा—"ऐसे महाराज! साष्टाङ्ग प्रणाम कब तक करता रहे?"

भगवान् ने कहा—"तब तक करता रहे, जब तक सम्पूर्ण चराचर में मेरी भावना दृढ़ न हो जाय। ऐसी भावना दृढ़ हो जाने पर—सर्वत्र आत्मभाव की भावना होने पर—उसे सम्पूर्ण संसार ब्रह्ममय प्रतीत होने लग जाता है। उसे आत्म बुद्धिरूप ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हो जाती है। उसे सर्वत्र शान्ति और सुख—का अनुभव होने लग जाता है। वह पूर्णरूप से निर्भय हो जाता है। क्योंकि भय सदा दूसरे से ही होता है। जिसकी सब में आत्मबुद्धि है, वह किससे द्वेष करेगा और किससे भयभीत होगा। जब ऐसी बुद्धि हो जाय, किसी प्रकार का सन्देह चित्त में न रहे तब उपरत हो जाय। तब सबमें मन से आत्म भावना रखता रहे। फिर ऐसे आत्म ज्ञानी के लिये लौकिक वैदिक किसी प्रकार के कर्मों में विधि निषेध का बन्धन नहीं रहता। आत्म भावना के बल से वह त्रिगुणातीत हो जाता है। मेरी प्राप्ति का इससे सरल सुगम अन्य कोई उपाय नहीं। जैसे भी हो सके, जिस

साधन से भी हो सके, उसी से मन वाणी और देह की समस्त वृत्तियों से सभी प्राणियों में मेरी ही भावना करे सर्वत्र मेरा ही अस्तित्व माने। यही मेरी प्राप्ति का सर्व सुगम सबसे सुन्दर श्रेष्ठ साधन है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! समत्व भाव का भावना करें और बीच में विघ्न आ जायँ तो क्या करे?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! विघ्न को भी मेरा ही स्वरूप समझे हम चोर को देखकर क्यों डरते हैं, कि हम अपने पास की वस्तुओं को अपनी समझते हैं चोर के समीप की वस्तुओं को दूसरे की। जब सब वस्तुओं को अपनी ही समझेंगे तो चोर से डरने की तो कोई बात नहीं। कोई भी वस्तु कहीं भी है अपनी ही है। बड़े बड़े व्यापारियों की बहुत से नगरों में शाखायें होती हैं। उन शाखाओं में बहुत सी वस्तुएँ रहती हैं। उन सबका वे उपयोग भी नहीं करते। बहुत सी वस्तुएँ तो उन्होंने देखी तक नहीं केवल भावनावश अपनी कहते हैं। उसी भावना को व्यापक कर दो तो सब अपना ही अपना है जहाँ सर्वत्र अपने मन की भावना का अभ्यास है वहाँ विघ्नों की सभावना ही नहीं। इस मेरे धर्म को प्रारम्भ कर देने के अनन्तर इसका विघ्नबाधाओं के द्वारा अणु मात्र भी ध्वंस नहीं होता बाधा तो प्रकृति के गुणों में संभव है। मैं स्वय प्रकृति के गुणों से परे हूँ अत. मेरा धर्म भी अप्राकृतिक चिन्मय

है, अत इसमें किसी भी प्रकार की विघ्नबाधाओं की सम्भावना नहीं।'

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! सभी जानते हैं कि जरा, मृत्यु वियोग तथा आधि व्याधि ये अवश्यम्भावी हैं, फिर भी इनसे दुःख होता ही है, इनसे बचने का क्या उपाय है ?"

भगवान् ने कहा—'तुम्हें कितनी बार तो मैं बता चुका सब दुःखों से बचने का एक ही उपाय है सबसे बचने का एक ही उपाय है सब में ब्रह्म भाव रखना। जो भी कुछ कर्म इच्छा से करे अनिच्छा से करे सबको मेरे अर्पण कर दे। जो भी सत् असत् अच्छे बुरे, सार्थक निरर्थक भाव उठें उन्हें निष्काम भाव से मुझे अर्पण कर दे। असत् भावों का समर्पण भी मेरी प्राप्ति का साधन है। फिर सद्भावों के विषय में तो कहना ही क्या है। देखो, उद्धव! यह मानव देह अनित्य है नाशवान् है इसका एक दिन अन्त अवश्य होगा। जिन वस्तुओं को मेरी मेरी कहकर दुखी होता है। वे वस्तुएँ भी यहीं रह जायँगी। जिस देह को नित्य मलमल कर धोता है, उसकी भी भस्म हो जायगी या विष्ठा बन जायगी। ऐसे क्षणभंगुर नाशवान् शरीर से, मुझ नित्य अविनाशी और शाश्वत परमात्मा को जो प्राप्त कर लेता है वही बुद्धिमान है वही चतुर तथा पण्डित है। चार श्वेत मिट्टी (चाँदी) के ठीकरे जमाकर लिये इसमें क्या बुद्धिमानी। अनित्य से तो अनित्य मिल ही जाता है। अनित्य से नित्य को प्राप्त कर लेना यही बुद्धिमत्ता है। इस प्रकार मैंने तुम्हें यह अत्यन्त दुर्लभ ज्ञान दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् के इस प्रकार पूछने पर उद्धवजी रोने लगे, उन्होंने कुछ भी भगवान से नहीं पूछा। अब भगवान् जिस प्रकार उद्धवगीता का उपसंहार करेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

आत्मा गगन समान समुझि नित नेह बढ़ावे।
करि सबको सत्कार द्वैत मन माहिं न लावे॥
विप्र, श्वपच, खर, धेनु करै डंडौत सबनि कूँ।
मेरे अरपन करै सकल तन मन करमनि कूँ॥
अपनों कछु समुझै नहीं, तन मन जन गृह वित्त कूँ।
या आनित्य तनतें चतुर, पावै मो 'अज' नित्य कूँ॥

उद्धवगीता का उपसंहार

(१३२६)

स एवमादर्शितयोग मार्ग-
स्तदोत्तम श्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्ध कण्ठो-
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ३५ श्लो०)

छप्पय

ज्ञान सार को सार कह्यो उद्धव ! यह तोतें।
शङ्का यदि कछु रही पूछि ग्याकूँ तू मोतें॥
जे श्रद्धायुत सुनहिँ हिये में जाकूँ लावें।
ते पावें मम भक्ति अन्त मम धामहिँ जावें॥
अब उद्धव तुमरो कहो, शोक मोह का नसि गयो।
मेरो माया तें रहित, रूप - हिये में बसि गया॥

सद्गुरु शिष्य के समस्त संशयों को मेंटकर अन्त में उससे पूछते हैं—"क्या तेरे सब प्रश्नो का उत्तर तुझे मिल चुका ?

* श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! उत्तम श्लोक भगवान् वासुदेवजी से उद्धवजी इस प्रकार योग मार्ग का उपदेश पाकर तथा उनके वचनामृत का पान करके मौन हो गये। उनके नेत्रों में नेह का नीर भर आया, प्रेमाधिक्य के कारण उनका कण्ठ अब रुद्ध हो गया, वे बोलने में असमर्थ होने के कारण हाथ जोड़े के जोड़े खड़े ही रह गये।"

क्या इन उत्तरों से तुझे संतोष हुआ है, क्या तेरा शोक मोह दूर हो गया ?" इस पर यदि शिष्य सन्तोष की साँस लेकर सहर्ष कह दे—"हाँ मेरा मोह नष्ट हो गया मेरे प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो गया।" तो सद्गुरु अपने श्रम को सफल समझता है। सम्वाद की समाप्ति इसी स्थल पर हो जाती है, किन्तु इसके पीछे भी एक सदाचार शेष रह जाता है। सद्गुरु इस ज्ञान के अधिकारी का अन्त में निरूपण करता है। इस ज्ञान को कैसे अधिकारी को देना चाहिये और कैसे को न देना चाहिये। साथ ही इस ज्ञान की परम्परा-सम्प्रदाय और महात्म्य को भी बताता है। गुरु व शिष्य का अन्तिम प्रश्नोत्तर उपदेश महात्म्य तथा अधिकारी का निरूपण इनका ही नाम उप संहार है। उपसंहार मे शास्त्र का सार सिद्धान्त आ जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब समस्त उपदेश देकर भगवान् ने उद्धवजी से पूछा—"उद्धव! अब तुम्हें कुछ और पूछना है ?" इस प्रश्न को सुनकर जब उद्धवजी ने कुछ भी प्रश्न नहीं किया, वे नयनों से नेह का नीर बहाने लगे, तब भगवान् ने अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए सबसे प्रथम इस ज्ञान क महात्म्य को बताते हुए कहा—"उद्धव! यह मैंने ब्रह्मवाद का सम्पूर्ण सार सग्रह कहीं सक्षेप से कहीं विस्तार के साथ तुम्हें बताया। मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि मैंने यह अपना ज्ञान बीज उत्तम अधिकारी के कानों द्वारा विशुद्ध हृदय चेत्र में वपन किया है। उपदेश देते समय मैंने अधीरता नहीं दिखायी। तुमने जो भी पूछा, उसका उत्तर मैंने धैर्य के साथ दिया। एक प्रश्न को तुमने कई बार पूछा। जितनी बार तुमने प्रश्न किया, उतनी ही बार मैंने उसका उत्तर दिया। बारम्बार कहने से पुनरुक्ति दोष भी हो सकता है। किन्तु भागवत धर्म में पुनरुक्ति दूषण न होकर भूषण ही है। जो जितनी ही पुनरुक्ति करेगा, वह

उतना ही बड़ा भक्त है। भगवान् के एक ही नाम को जितनी बार भी लो उतनी ही बार उत्तम है। भगवान् की कथाओं को जितनी बार सुनो, जितनी ही बार पढ़ो, जितनी बार भी पूछो, उतना ही वे अधिक लाभप्रद होती जाती हैं। अतः तुमने मुझसे बहुत से प्रश्नों को बार बार पूछा, मैंने भी बार बार ही उनका उत्तर भी दिया। मेरे इस ज्ञान को जान लेने से पुरुष विमुक्त बन जाता है। अब अन्त में मैं एक आशीर्वाद देता हूँ।"

जो पुरुष हमारे तुम्हारे इस सम्वाद को श्रद्धा सयम सहित सुनेंगे, सुनावेंगे, पढ़ेंगे, पढ़ावेंगे, प्रचार करेंगे, करावेंगे तथा भक्ति पूर्वक हृदयङ्गम करेंगे, सुनकर मनन निदिध्यासन करेंगे, वे वेदों के भी परम रहस्य मय-मुक्त सनातन परब्रह्म को अवश्यमेव प्राप्त कर लेंगे, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। स्वयं पढ़ने की अपेक्षा जो मेरे अल्पज्ञ अनपढ़ श्रद्धालु भक्तों को भलीभाँति समझा समझाकर सुनावेंगे। उन ज्ञान दाताओं का तो मैं ऋणिया-बन जाऊँगा। वे चाहे मुझे आत्म समर्पण करें या न करें मैं स्वयं उन्हें आत्म समर्पण कर दूँगा। यह तो हुआ सुनाने का फल। अब तुम नित्य पाठ करने का भी फल श्रवण करो।

जो कोई भक्त श्रद्धा भक्ति के साथ इस हमारे तुम्हारे सम्वाद रूपी गीता का नित्यप्रति नियम से पाठ करेगा, उसके हृदय का समस्त तम भाग गया उसे ज्ञान रूपी दीपक प्राप्त हो जायगा। उस दीपक के पुण्य प्रकाश में वह मेरा साक्षात्कार करके परम पावन बन जायगा। जो पाठ करने में समर्थ न हो, वह यदि किसी दूसरे से श्रद्धा पूर्वक नित्य श्रवण करता है, वह भी मेरी अति दुर्लभ परा भक्ति के प्राप्त करके समस्त कर्म बन्धनों से सदा के लिये छूट जाता है।'

उद्धवजी ने रोते रोते पूछा—'प्रभो ! हृदय की अज्ञान

ग्रन्थियों को खोलने वाले आपके इस परम पावन ज्ञान को किसे दें ? कौन इस ज्ञान के प्राप्त करने के अधिकारी हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! मेरी इस बात को गाँठ बाँध लो। देखो, जिसका हृदय छलकपट से रहित निर्दोष हो, प्रेमी हो, साधु स्वभाव का हो, मृदुल हो। जो चरित्रवान् हो जिसका आचरण शुद्ध हो उसको ही इस ज्ञान को देना।'

उद्धवजी ने पूछा—'महाराज ! जैसे वेदों का उपदेश स्त्री, शूद्रों के लिये निषेध है वैसे इस ज्ञान के लिये तो कोई नियम नहीं।"

भगवान ने कहा—"उद्धव ! मेरी वाणी का ही नाम वेद है। यह भी मेरे द्वारा ही कहा हुआ ज्ञान है, वेदों के सदृश ही है। कई अर्थों में तो यह वेदों से भी बढ कर है। क्योंकि वेदों का प्रकाश तो मैंने परम्परागत ऋषियों द्वारा कराया है। ध्यान में ऋषियों के हृदय में ही वेद की ऋचाएँ उद्भूत होती हैं। यह ज्ञान तो मैंने स्वयं ही अपने मुख से कहा है। फिर भी इसमें ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुक को दो, अमुक को न दो जो अधिकारी हो वह फिर चाहे, स्त्री, शूद्र कोई भी क्यों न हो सभी को इस ज्ञान का देना चाहिये। जो अधिकारी न हो, वह फिर चाहे द्विज ही क्यों न हो, उसे इस ज्ञान का उपदेश न देना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! इस ज्ञान के प्राप्त करने के अनधिकारी कौन हैं ? कृपा करके बताइये, कैसे लोगों को इसे न देना चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"जो दाम्भिक है। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये मिथ्या वेष बना लेता है जैसा है नहीं वैसा अपने को प्रकट करता है। जिसे वेद में ईश्वर में विश्वास नहीं। जो दुष्ट प्रकृति का है, जो सुनना नहीं चाहता हो। जिसे मुझमें

मेरे भक्तों गौ ब्राह्मणों में तथा वेद शास्त्रों में भक्ति न हो तथा और भी जो मिथ्याभिमानी हो, ऐसे लोगो को कभी भी इस का उपदेश न देना चाहिये। ऐसे लोगों को उपदेश देना ऊसर मे बीज बोने के समान है। उसमे अंकुर तो उपजेगा ही नहीं उलटे बीज की भी हानि होगी। अतः श्रद्धा से विहीन बड़े से बड़े पुरुष को भी इस ज्ञान को न सुनाना चाहिये। श्रद्धावान् कोई भी क्यों न हो उसे ही प्रेमपूर्वक इसे सुना देना चाहिये। क्योंकि मेरी भक्ति श्वपचों को भी पावन बना देती है। यह मेरा परिपूर्णतम ज्ञान है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! परिपूर्णतम का क्या अर्थ ?"

भगवान् ने कहा—"कुछ ज्ञान ऐसा होता है, कि बिना दूसरा शास्त्र सुने वह पूर्ण नहीं समझा जाता। किन्तु यह ज्ञान ऐसा है कि इसे सुन लेने के अनन्तर कुछ भी सुनने को शेष नहीं रहता। जैसे अमृत को पी लेने पर कुछ भी पीने को शेष नहीं रहता। ज्ञानयोग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, कर्मयोग के द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है वाणिज्य से अर्थ की प्राप्ति होती है और यश ऐश्वर्य तथा राज्य से कामादि सुखो की प्राप्ति होती है। किन्तु तुम्हारे जैसे मेरे अनन्य भक्त मुझे ही सर्वस्व समझते हैं मेरे पीछे वे त्रिवर्गों की तो बात ही क्या मुक्ति को भी ठुकरा देते हैं। वे मुक्ति न चाहें, किन्तु जो सब कुछ त्याग कर अनन्य भाव से मेरी ही उपासना करते हैं, मुझे आत्म समर्पण कर देते हैं, तो वे सब जीवों से विशिष्ट बन जाते हैं। उनका आवागमन सदा के लिये छूट जाता है। वे मेरे ही बन जाते हैं, मुझमे ही आत्मसात् हो जाते हैं। यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप में तुमसे इस ज्ञान का महात्म्य बताया। अब तुम यह बताओ, कि तुमने मुझ पर ब्रह्म का सत्य स्वरूप भलीभाँति समझ तो लिया? तुम्हारे मन में कोई शंका शेष तो नहीं रही? तुम्हारे मन का

मोह मिट गया न ? तुम्हारा समस्त शोक सन्ताप शान्त हो गया है ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान के ऐसे स्नेह से भरे वचन सुनकर उद्धवजी का हृदय उसी प्रकार फूटकर बहने लगा जैसा पका हुआ फोडा फूटकर बहने लगता है। उनके सम्पूर्ण शरीर में रोमाञ्च हो गये, कण्ठ अवरुद्ध हो गया। वे बोलना

चाहते थे, किन्तु एक भी शब्द मुख से नहीं निकलता था। वे बडी देर तक हुचकियाँ मारते रहे। जब कुछ चित्त शान्त हुआ, हृदय हलका हुआ तब धैर्य पूर्वक प्रेमावेश से विह्वल बने अपने चित्त को रोक कर प्रभु के पादपद्मों में पड गये और अपने स्नेहाश्रुओं से उनके चरण कमलों को भिगोते हुए कहने लगे।"

उद्धवजी बोले—"हे सर्व समर्थ प्रभो ! आपके वचनामृतों से मेरा मोह दूर हो गया। जिस महा मोहमय घोर तिमिर के आश्रय में रहकर मैं किंकर्तव्य विमूढ़ बना हुआ था वह अज्ञानान्धकार आपके ज्ञान रूप भास्कर के उदय हो जाने पर दूर हो गया। आपके सुखद सहवास से समस्त संशय शान्त हो गये।"

भगवान् ने पूछा—"अब भी कोई संशय शेष रहा हो, तो तुम मुझसे कह दो।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! जाड़े के दिनों में घोर अंधकार-मय रात्रि के समय वन मे यदि अग्नि जल जाय, तो उसके जलते ही जैसे शीत, भय और अन्धकार एक साथ ही नष्ट हो जाते हैं वैसे ही आप ज्ञान स्वरूप के आश्रय से अशान्ति, भय और अज्ञान तीनों ही विलीन हो गये। अब मैं शान्त स्वस्थ, निभय, निर्द्वन्द्व तथा आनन्दमय बन गया। ज्ञान स्वरूप तो मैं पहिले ही था, किन्तु बीच मे किसी अनिवर्चनीय कारण से मेरा वह स्वाभाविक ज्ञान आपकी मनमोहिनी माया ने अपहरण कर लिया। उस ज्ञान से रहित होकर मैंने आपके चरणों का आश्रय ग्रहण किया। आप अहैतुक कृपालु हैं, आपने मेरे ऊपर दया करके माया के द्वारा अपहरण किये ज्ञान को पुनः मुझे प्रदान कर दिया। जिसे आपकी इस कृपालुता तथा दया का अनुभव है, वह ऐसा कौन अत्यन्त कृतघ्न पुरुष होगा, जो आपके संसार सागर से सहज में ही पार करने वाले उन अरुण मृदुल चरणों का आश्रय त्याग कर अन्य किसी का आश्रय ग्रहण करेगा। प्रभो ! आपकी माया से मोहित होकर ही मैं भूला हुआ था और समझता था मैं इन यादवों के दशार्ह, वृष्णि, अन्धक तथा सात्वत कुलों मे का हूँ। ये ही सब मेरे सुहृद हैं, किन्तु अब मैं समझ गया कि चराचर जीवों के एकमात्र सुहृद सम्बन्धी सखा तथा सर्वस्व आप ही हैं। मेरा इन मधुभोज दाशार्ह, कुकुर

तथा अन्य कुल वालों का मोह छूट गया। जो स्नेह पाश आपने अपनी माया के द्वारा मेरे हृदय में फैला रखा था, उसको आज आपने अपनी अहैतुकी अनुग्रह से अन्त कर दिया। आत्मबोध रूपी तीक्ष्ण खड्ग से उसे जड़मूल से काट दिया अब भगवन्! मुझे आप क्या आज्ञा देते हैं? अब आप मुझे ऐसी युक्ति बतावें, जिससे यह मोहिनी माया फिर मेरे ऊपर अपना प्रभाव न डाल सके। आपके चरणारविन्दों में मेरी निरन्तर सुदृढ़ अविचल भक्ति बनी रहे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी के ऐसा प्रश्न करने पर भगवान् श्याम सुन्दर मौन हो गये और उद्धवजी के विषय में सोचने लगे।"

छप्पय

उद्धव सुनि प्रभु प्रश्न चरन कमलनि लपटाये।
कण्ठ भयो अवरुद्ध नयन जल तें भरि आये॥
पुनि कछु धरिकें धीर कहें—"प्रभु! सब कछु जानों।
भयो यथारथ ज्ञान मोह मद मान नसानों॥
भयो नाथ! जीवन सफल, पुनि पुनि पद पदमनि परूँ।
कृष्ण, कृपा करिकें कहें, है कृतार्थ अब का करूँ॥

उद्धवजी की विदाई

(१३२७)

सुदुस्त्यज स्नेह वियोग कातरो
न शक्नुवस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २९ अ० ४६ श्लो०

छप्पय

सुनि बोले यदुनाथ—'वत्स ! बदरीवन जाओ ।
कन्द, मूल फल खाइ अलकनन्दामें न्हाओ ॥
शीत उष्ण को सहन करो नित ध्यान लगाओ ।
तो तुम तजि भव बन्ध अन्त महँ मोकूँ पाओ ॥
श्याम सीख सुखमय सुनी, पुनि पद पद्मनि परि गये ।
प्रभु चरननि बिछुरन सुमिरि, उद्धव अति विह्वल भये ॥

कितना भी ज्ञान वैराग्य हो जाय, किन्तु जो भावुक हैं, सरल हैं सहृदय हैं उनका किसी स्नेही भगवत् भक्त से विछोह होता है, तो उसका हृदय भर ही आता है। नेत्रों से नेह का नी

*श्री शुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान् से विदा होते समय उनके भावी वियोग को स्मरण करके उद्धवजी व्याकुल हो गये । क्योंकि भगवान् का स्नेह अत्यन्त ही दुस्त्यज है

निरन्तर निकलने ही लगता है। चित्त में विकलता हो ही जाती है, किन्तु ये मोह के चिह्न नहीं हैं विशुद्ध प्रेम के चिह्न हैं। जब भक्तों के वियोग के समय ऐसी दशा होती है, तब सौन्दर्य धाम साकार श्याम सुन्दर से वियोग हो रहा है, तो उस समय चित्त की कैसी वृत्ति होगी, इसे भुक्तभोगी के अतिरिक्त अन्य कोई भी अनुभव नहीं कर सकता। अपना अत्यन्त अनुरागी आँखों से ओझल हो रहा हो, तो उस समय हृदय की एक विचित्र ही दशा होती है हृदय में एक मीठी मीठी पीड़ा होती है। उसे सुख कहें या दुख जो भी कुछ कह लो ऐसा अनिर्वचनीय सुख दुख परम भाग्यशाली पुरुषों को ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से अपने अन्तिम कर्तव्य के विषय में जिज्ञासा की, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! यदुकुल को ब्राह्मणों का शाप हो गया है। इस कुल का अब अतिशीघ्र ही विनाश हो जायगा।"

उद्धवजी ने रोते रोते कहा—"प्रभो! मुझे यदुकुल से क्या लेना देना, कल न करके उसका आप आज ही विनाश कर दें। मुझे तो आप चाहिये और आपका कभी नाश होने का नहीं, क्योंकि आप अविनाशी हैं।"

भगवान ने कहा—"हाँ, मेरा क्या नाश होना, मैं तो कालका काल हूँ, फिर भी मैं इस धराधाम को त्यागकर स्वधाम को चला जाऊँगा।"

दीनता के साथ अश्रु विमोचन करते हुए उद्धवजी ने विनय की—"प्रभो! मुझे भी अपने साथ स्वधाम ले चलें।"

सहसा चरणों का त्यागना कठिन होने के कारण उन्होंने अति आतुर होकर अपने स्वामी की चरणपादुकाएँ लेकर सिर पर धारण कर लीं। और उन्हें लेकर तथा पुनः पुनः प्रणाम करके वे कठिनता के साथ द्वारकाजी से चल दिये।"

अत्यन्त ममता के साथ सम्पूर्ण दुलार घटोर कर भगवान् ने कहा—"नहीं, भैया! अभी तुमसे बहुत काम लेना है। अभी तुम पृथिवी पर ही रहो।"

रोते रोते उद्धवजी ने कहा—"नाथ! आपके त्यागे इस धराधाम पर मैं कैसे रहूँगा। आपकी आज्ञा को तो कोई टाल ही नहीं सकता। किन्तु मैं रहूँगा कहाँ?

भगवान् ने कहा—"देखो, भैया! अधीर नहीं होते हैं। तुम बदरीवन में चले जाओ। वहाँ मेरा अति पवित्र शान्त एकान्त कोलाहल से रहित आश्रम है। वहाँ मेरे चरणों से निकली हुई अलकनन्दा नामक गंगा है। उसका जल अत्यन्त स्वच्छ, निर्मल तथा अमृतोपम है। उसका यथेष्ट पान करना। उसमें स्नान करना, वहाँ वन मे कन्दमूल, फल उत्पन्न होते हैं उन्हीं को खाकर निर्वाह करना और मेरा ध्यान करते रहना। भगवती अलकनन्दा में स्नान पान की बात ही क्या है, उनके जल के दर्शन मात्र से ही समस्त पाप दूर हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने कहा--"भगवन्! वहाँ तो बडा शीत पडता होगा?"

भगवान् ने कहा--"तो क्या हुआ? शीत उष्ण के सहन करने का ही नाम तो तप है शीत, उष्ण, सुख दुख आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए वहाँ निवास करना। सुशील शान्त चित्त, जितेन्द्रिय होकर, बुद्धि को समाहित और स्थिर करके मेरे ध्यान में लगे रहना। ज्ञान और विज्ञान से युक्त होकर निर्द्वन्द्व होकर वहाँ के वनों मे विचरना। वहाँ के प्रत्येक औषधि मे गन्ध आती है। इसीलिये उस पर्वत का नाम गन्धमादन है। उस पर्वत पर निवास करके मेरे ही बताये हुए भागवत धर्मों का पालना करना मन से मेरे ही मनहर रूप का मनन करते रहना, वाणी से मेरे ही श्रुति मधुर पावन नामों का कीर्तन करते रहना। जो मैंने तुम्हें

शिक्षा दी है उसको स्मरण रखकर निरन्तर उसीका अनुभव करते रहना। यदि तुम ऐसा करोगे, तो त्रिगुणातीत होकर अन्त में मुझ परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त हो जाओगे। तुम्हारे द्वारा मुझे साधनों का प्रचार प्रसार कराना है।"

रोते रोते उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! आप मुझ दीन हीन का त्याग क्यों कर रहे हैं, मेरे तो सर्वस्व आप ही हैं। प्रभो! मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकता।

भगवान् ने अत्यन्त ही स्नेह के साथ कहा—"अरे, भैया! मैं तुझे त्याग कहाँ रहा हूँ। बदरीकाश्रम मेरा नित्यधाम है–भू वैकुंठ है–वहाँ तुम निरन्तर मेरा स्मरण करते रहना।"

उद्धवजी ने अधीरता के साथ कहा—"हे अशरणशरण! हे भक्तवत्सल! सब कुछ सत्य है, किन्तु मुझे ये चरणारविन्द कहाँ मिलेंगे। इनकी परमपावन रज मुझे मस्तकपर मलने को कहाँ मिलेगी। मैं जीवन भर इन चरणों की सन्निधि में ही रहा हूँ, इनका परित्याग मैं कैसे कर सकूँगा ?"

उद्धवजी जब अत्यन्त ही अधीर हो गये तथा फूट फूटकर रोने लगे, तब उन्हें सान्त्वना देते हुए और उनकी पीठ पर अपना वरद मृदुल श्रीहस्त फेरते हुए अत्यन्त ही ममता के साथ पुचकारते हुए भगवान् बोले—"देखो, भैया! इस प्रकार तुम्हें अधीर न होना चाहिये। यदि तुम्हें मेरे चरणों का ही मोह है, तो लो, ये मेरी चरणपादुकायें ले जाओ इन्हीं को तुम नित्य पूजा करना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने अपने चरणों में से उतार कर उद्धवजी को अपनी चरणपादुकाएँ प्रदान कीं, तो उन्होंने अत्यन्त ही प्रेम तथा ममता के साथ उन्हें सिर पर चढ़ाया बार बार नयनों से लगाकर उन्हें पाद्य अर्घ्य आचमनीय तथा स्नान के लिये नयन नीर प्रदान किया। प्रभु की चरणपादुकाओं को प्राप्त करके उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों भगवान् के ये चिन्मय

दो उपाङ्ग ही हैं। प्रभु ने अब पादुकाएँ प्रदान कर दीं और मुझे बदरीवन जाने की आज्ञा दे दी, अब तो जाना ही होगा, यह सोचकर वे बड़े कष्ट से उठे। अब भगवान् भी धराधाम को त्यागकर स्वधाम पधार जायँगे प्रभु के बिना द्वारावती नगरी भी न रहेगी, यही सब सोचकर उद्धवजी विह्वल हो गये, वे बालकों की भाँति ढाह मारकर रोने लगे। रोते रोते उन्होंने प्रभु की प्रदक्षिणा की बार बार उनके चरणोंमें लोटकर प्रणाम की।

यद्यपि भगवान् के दिव्योपदेश से उन्हें ज्ञान हो गया था, तो भी वियोग को स्मरण करके उनका हृदय फटने लगा। प्रेमातिरेक के कारण वे आत्म विस्मृत से बन गये थे। श्रावण भादों के मेघों

के समान उनके युगल नयन अश्रुओं की वर्षा कर रहे थे। जिनको सोते जागते उठते बैठते कभी पलभर को भी नहीं छोड़ा था, जिनके पीछे छाया की भाँति वे निरन्तर रहते थे, उन्हीं दुस्त्यज प्रभु की मनमोहिनी मूर्ति को त्याग कर दूर देश मे जाना होगा, इससे उनकी कातरता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी। उन्होंने भगवान् की चरणपादुकायें कृपण के धन के सदृश सिर पर रख लीं। वे शरीर से तो हट रहे थे, किन्तु मन से अधिकाधिक मिल रहे थे। एक पैर चलते फिर रो पड़ते, भगवान् के दर्शन करते फिर एक पैर चलते। इस प्रकार बड़े कष्ट से वे द्वारकाजी से चल दिये।

इनका मन जाने को करता नहीं था, किन्तु प्रभु की आज्ञा है इसलिये जाना ही होगा। इसलिये चलते, किन्तु फिर कुछ सोचकर रुक जाते। बहुत इच्छा करने पर भी वे आगे न बढ़े छिप कर भगवान् के पीछे पीछे प्रभास तक गये, फिर वहाँ से भगवान् से पुनः उपदेश प्राप्त करके वे व्रज में आये। विदुरजी से भेंट हुई एकरात्रि उनके साथ रहे। रात्रि भर श्रीकृष्ण कथा होतीःरही। प्रातःकाल विदुर जी रोते हुए मैत्रेय मुनि से भागवत् सुनने हरिद्वार चले गये और उद्धवजी आगे बढ़े।

उद्धवजी ने सोचा—"मैं जब श्यामसुन्दर की आज्ञा से गोपियों को ज्ञान सिखाने वृन्दावन आया था, तब उनके अद्भुत प्रेम को देखकर मैं उनका शिष्य सेवक बन गया। तभी मैंने प्रार्थना की थी—"प्रभो! मुझे वृन्दावन में कोई लता गुल्म बना दो, जिससे इन महाभागा व्रजवासिनी वनिताओं की चरण रेणु उड़ उड़कर मेरे अङ्गों पर पड़े। मेरी अभिलाषा तो यह थी किन्तु श्यामसुन्दर ने अन्त समय मुझे आज्ञा दी है, कि मैं बदरिकाश्रम में जाकर साधन करूँ। भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों की छोटी से छोटी बड़ी से बड़ी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं।

अब वे मुक्त व्रज का दिव्य रस चखायेंगे या पहाड़ों में साधन करावेंगे।"

उद्धवजी गोवर्धन की तलहटी में कुसुम सरोवर के निकट मरुी स्थल, में बैठे बैठे यह सोच ही रहे थे, कि उनके दो रूप हो गये। एक रस रूप और एक साधन रूप। वृन्दावन रस भूमि है, अत रसास्वादन करने के निमित्त उनका रस रूप तो लता रूप में प्रवेश कर गया जो गोवर्धन और राधाकुण्ड के बीच में कुसुम सरोवर पर अब तक उद्धव लता के नाम से प्रसिद्ध है और वहाँ वृक्षरूप में उद्धवजी निरन्तर वास करते हैं तथा जो भक्त जाकर भागवत सप्ताह करते हैं उनके सम्मुख प्रकट भी होते हैं। दूसरा जो साधन शरीर था उससे वे बदरीवन में गये और वहाँ अब भी वे *भगवान् के उपासक रूप में विद्यमान हैं।* उद्धवजी का उत्सव ही स्वरूप है। अत वे उत्सव मूर्ति के नाम से पूजे जाते हैं। वर्ष में एक दिन वे उत्सव रूप में वामन द्वादशी के दिन मूर्तिमाता के यहाँ जाते हैं। उद्धवजी की लायी हुई चरण-पादुकायें अब तक श्री बदरीनाथ भगवान् के मन्दिर में विद्यमान हैं। काल के प्रभाव से उनकी आकृति छोटी हो गयी है। यात्रियों को चदन में ठप्पाकर केशर चदन की चरणपादुकायें प्रसाद में मिलती हैं। अब तक उद्धवजी तपोमय आचरण करते हुए भगवान् की दिव्य छवि का ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार उन्होंने भगवान् की गति को प्राप्त कर लिया है। वे निर्द्वन्द्व और निरामय हो गये।

मुनियो ! यह मैंने अपने गुरुदेव भगवान् श्री शुकदेव के मुख से सुनी हुई उद्धवगीता आपसे कही। इस ज्ञान को किसी ऋषि मुनि ने नहीं सुनाया। स्वयं साक्षात् योगेश्वर आनन्दकन्द श्रीकृष्ण चन्द्र ने अपने मुख से अनन्य ऐकान्तिक भक्त उद्धव को सुनाया था। इस ज्ञान का जो यत् किंचित भी अंश श्रद्धापूर्वक

श्रवण करते हैं, जो इस धर्म का स्वरूप भी पालन करते हैं, वे बड़े बड़े भयो से सहज मे ही पार हो जाते हैं। वे क्या पार हो जाते हैं जगत् ही उनके सङ्ग से मुक्त हो जाता है। उसके लिये संसार रहता ही नहीं। मुनियो! जैसे तिलों में तैल है, किन्तु वह बिना पेरे नहीं निकल सकता, दुग्ध के कणकण में मक्खन है, किन्तु बिना मथे वह नहीं निकल सकता, प्रत्येक पुष्प में मधु है, किन्तु उस मधु को मधुमक्षिका या भ्रमर ही एकत्रित कर सकते हैं। इसी प्रकार वेदों मे समस्त ज्ञान भरा है, किन्तु उसको मथकर सार तत्व भगवान् ही निकाल सकते हैं। इसीलिये भगवान् ने दो बार समुद्र मंथन किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! एक बार तो क्षीरसागर में मंदराचल को डालकर तथा वासुकी को नेति बनाकर अजित भगवान् ने समुद्र मथा था, दूसरी बार समुद्र कब मथा गया?"

सूतजी बोले—"महाराज! एक बार का समुद्र मंथन तो प्रसिद्ध ही है, उसमे से जो अमृत का कलश लेकर धन्वन्तरिजी निकले थे, उसे असुर लेकर भाग गये थे, भगवान् ने बड़ी युक्ति से-असुरों से-अमृत छीनकर अपने भक्त देवताओं को पिलाया दूसरी बार यह समस्त वेद-वेदान्त रूपी ज्ञान समुद्र को मथकर जो ज्ञान विज्ञान का सार सिद्धान्त रूप उद्धवगीतामृत निकला उसे यद्यपि भगवान् ने अपने भक्त उद्धव को ही पिलाया, किन्तु उन्होंने समस्त भक्तों के लिये इसका द्वार खोल दिया। जो भक्त-गण इस उद्धवगीता रूप ज्ञानामृत का पान करेंगे वे निश्चय ही अमर हो जायँगे। यह मैंने आप से उद्धवगीता कही। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब परम भागवत् उद्धवजी द्वारावती से बदरीवन को चले गये, तो भगवान् ने फिर क्या किया?" क्या भगवान् ब्राह्मणों के शाप को अन्यथा नहीं

कर सकते थे ? भगवान् ने ब्रह्म शाप को स्वीकार करके अपने कुल का संहार स्वयं ही करा दिया ? समस्त इन्द्रियों और मन को परम सुख प्रदान करने वाले अपने विश्वविमोहन वपु को उन्होंने किस प्रकार त्यागा ? अहा ! श्यामसुन्दर का वह स्वरूप कि जिसमें एक बार आँख लग जायें तो लगी की लगी ही रह जाय। भूलकर भी दृष्टि उधर पड़ जाय, तो वह वहाँ चिपकी की चिपकी ही रह जायँ। महिलाओं के नेत्र जिसमें एक बार जुड़ जाते थे, तो फिर मुड़ने का नाम भी नहीं लेते थे। नेत्र ने दर्शन न भी किये हों, यदि वह रूप माधुरी, कर्णरूपी पान पात्रों द्वारा हृदय में पहुँच जाय तो फिर वह गड़ जाती है, फिर निकलने का नाम भी नहीं लेती। कविगण अपनी वाणी द्वारा जिसका वर्णन करते हैं, तो वह वाणी कृतार्थ हो जाती है। उसमें एक प्रकार की मीठी मीठी मादकता छा जाती है, जो अत्यधिक आकर्षक बन जाती है। जिस रूप माधुरी का पान महाभारत युद्ध में विपक्षियों ने भी पार्थ के रथ से किया था और उसके दर्शन करने मात्र से ही उन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई थी, उस रूप माधुरी को भगवान् ने कैसे तिरोहित कर लिया। कैसे वे अन्तर्हित हो गये, कैसे उन्होंने इस अवनि को अपने चरण स्पर्श सुख से वञ्चित बना दिया, कृपा करके हमें भगवान् के स्वधाम गमन की कथा और सुना दें। सूतजी ! आपकी बड़ी आयु हो, आप हमें ऐसा अमृत पान करा रहे हैं, कि जिसकी उपमा संसार में मिल ही नहीं सकती। महाभागो ! आपने हमें श्रीकृष्ण चरित्र सुना कर कृतार्थ कर दिया।

सूत जी ने कहा—"मुनियो ! मुझ में श्रीकृष्ण चरित्र सुनाने की शक्ति कहाँ है। जैसे सूर्यनारायण, चक्षुरूप से नेत्रगोलक में रहते हैं, फिर सूर्य रूप से स्वयं ही उसे प्रकाशित करके सब वस्तुओं को दिखाते हैं, उसी प्रकार आप मेरे हृदय में प्रेरणा

करके इस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं और स्वयं ही श्रोता बनके उसका आस्वादन करते हैं। आपही मुझसे कहला रहे हैं आपही सुन रहे हैं। श्रोता वक्ता दोनों ही आप हैं, मुझे तो आपने निमित्त बना लिया है। जो प्रश्न आपने मुझसे किया है वही प्रश्न महाराज परीक्षित ने मेरे गुरुदेव भगवान् शुक से किया था। इसका उन्होंने जो भी उत्तर दिया, उसे मैं यथाभाँति आपको सुनाऊँगा आप सब उसे समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

चरनपादुका लईं धरीं सिर प्रभुपद सुमिरत।
पुनि पुनि करत प्रनाम चले बदरीवन बिलखत॥
हरि निज सेवक सखा समुझि सब सीख सिखायी।
शुभ शिक्षा हिय धारि परम गति उद्धव पायी॥
पूछें शौनक—'सूतजी, पुनि यदुनन्दन का कर्यो?
कैसे कुल संहार करि, शेष भार भू को हर्यो॥

यदुवंश-विनाश की प्रस्तावना

(१३२८)

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान्समुत्थितान् ।
दृष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३० अ० ४ श्लो०)

छप्पय

कहें सूत अप शकुन पुरी महँ नित नित होवें ।
करि करि कर्कश शब्द सियारिनि दिन महँ रोवें ॥
काक कंक अरु गीध अशुभ खग इत उत डोलें ।
उल्लू श्वान कपोत भयङ्कर बोली बोलें ॥
हरि बोले--"यादव सुनहुँ, इन उत पातनि शमन हित ।
सब प्रभास मिलिकें चलो, दान धरम महँ देहु चित ॥

जैसा होना होता है, उसकी सूचना पहिले ही हो जाती है। जो अहङ्कार के मद में मद मत्त बने रहते हैं, वे अप शकुनों की सूचना की भी अवहेलना कर देते हैं। वे अभिमान के वशीभूत

* श्री शुक्देव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी ने जब आकाश, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष में महा उत्पातों को उठते हुए देखा, तो वे सुधर्मा सभा में बैठे हुए यादवों से इस प्रकार कहने लगे।"

होकर उस ओर ध्यान नहीं देते। नहीं तो पशु पक्षी भी भावी अपशकुनो के लक्षणों से अपने स्थान को छोड़ देते हैं। जो होना होना है, वह तो अवश्य ही होकर रहता है। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। इतनी बात है, कि दान धर्म करने से तीर्थ आदि पवित्र स्थानों में रहने से अशुभ गति नहीं होती। इसी लिये जब विपत्ति का समय आवे, तब अच्छे साधु सन्तों का सत्सङ्ग करना चाहिये। दान पुण्य आदि सत्कर्मों में मन लगाना चाहिये तथा पुण्य क्षेत्रों मे उत्तम उत्तम तीर्थों में जाकर समय बिताना चाहिये। इन कामों से अशुभों का नाश होता है, तथा सद्गति की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी भगवान् से विदा हो गये, तब भगवान् ने देखा, द्वारका पुरी में नित्य ही नये नये उत्पात होते हैं। बिना बादलों के बिजली गिरती है। वन के पक्षी नगर में आकर रोते हैं। देव मूर्तियों के शरीरों से स्वेद निकलता है। रक्त मांस की वर्षा होती है, रूखी वायु चलती है, तथा इसी प्रकार के और भी अनेकों उत्पात होते हैं। इन सब प्रलय के सूचक उत्पातों को देखकर भगवान् ने सभी यादवों को बुलाया और सबको समझाते हुए कहने लगे—"क्यों, भाई तुम लोग देख रहे हो, ये जो नित्य नये भयङ्कर उत्पात होते हैं, असंख्यों अपशकुन होते रहते हैं, इसका परिणाम क्या होगा?"

आकुलता के साथ यादवों ने कहा—"प्रभो! हम तो कुछ भी नहीं समझते। आपही बतावें इनका फल क्या होगा?"

भगवान् ने कहा—"ये सब लक्षण प्रलयकारी हैं। इन लक्षणों से सिद्ध होता है, यदुकुल के ऊपर कोई बड़ी भारी विपत्ति आने वाली है।"

अत्यन्त ही भयभीत होकर सब ने कहा—"तो भगवन्! अब हमारा क्या कर्तव्य है?"

भगवान् ने कहा—"द्वारावती में ये उत्पात क्या हो रहे हैं, मानों यमराज हमें बुलाने को झंडी दिखा रहे हैं। ऐसी दशा में अब हमें यहाँ एक क्षण भी न रुकना चाहिये।"

हड़बड़ाहट के सहित यादवों ने पूछा—"द्वारका पुरी को छोड़कर चलें कहाँ ?"

भगवान् ने कहा—'देखो, जितने बाल बच्चे हैं, स्त्रियाँ हैं तथा बूढ़े बड़े हैं उन सबको तो शङ्खोद्धारक तीर्थ में भेज दो और हम सब मिलकर पुण्य क्षेत्र प्रभास तीर्थ मे चलें। वह बड़ा ही पावन क्षेत्र है जहाँ पश्चिम की ओर बहने वाली पुण्यतोया भगवती सरस्वती बहती हैं, वहीं हम अनिष्टों के शमनार्थ प्रयत्न करेंगे।"

यादवों ने पूछा—"वहाँ चलकर हम सब को क्या करना होगा ?"

भगवान् बोले—"देखो, जब ऐसे अनिष्ट सूचक अपशकुन दिखाई दें, तब सब को मिलकर दान, पुण्य, व्रत, उपवास तथा अन्यान्य शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, देवताओं का पूजन करना चाहिये, ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिय और पवित्र मन्त्रों का जप करना चाहिये। प्रभास क्षेत्र में पहुँचकर पहिले तो हम संकल्प पूर्वक स्नान करेंगे। तीथ मे जिस दिन जाय उस दिन उपवास करे, इस नियम से हम प्रथम दिन उपवास करेंगे। तीर्थ का अन्य देवताओ पूजन करेंगे। दूसरे दिन फिर तीर्थ स्नान से शुद्ध होकर फिर आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, यज्ञोपवीत, वस्त्र, आभूषण, चन्दन, धूप, दीप, सुगंधित द्रव्य, पुष्प, माला, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, पुंगीफल, शैया, प्रार्थना, प्रदक्षिणा नमस्कार तथा क्षमायाचना आदि से देवताओं का पूजन करेंगे। नाना प्रकार के सुन्दर स्वादिष्ट रसीले षडरस युक्त पदार्थ बनवावेंगे। उन से ब्राह्मणों को इच्छा भोजन करावेंगे।

उनको विधि पूर्वक सुवर्ण, गो, वस्त्राभूषण, प्रिय पदार्थ, हाथी, घोड़ा, रथ, भूमि भवन तथा उपवनादि दान देंगे। उनके पैरों पड़ेंगे उनसे आशीर्वाद लेंगे। इन्हीं सब कार्यों से तो रोग, शोक आदि अरिष्ट दूर होते हैं। इन्हीं मङ्गलमय कार्यों से आन्तरिक शान्ति होती है। धर्म की स्थिति गौ और ब्राह्मणों के ही कारण है। ब्राह्मण गण ज्ञान का सदा उपदेश देते रहते हैं, जिससे मनुष्य पशुता जडता से ऊँचा उठता है, परमार्थ की बात सोचता है। गौएँ शुद्ध पवित्र दूध देती हैं, जिनसे यज्ञयाग होते हैं, देवता पितर गण तृप्त होते हैं, परलोक बनता है। लोग भौतिकता को हेय समझ कर आध्यात्मिकता की ओर बढते हैं। अत कल्याण की इच्छा करने वालों को सदा इन दोनो का आदर करना चाहिये इसलिये क्षत्रियों का चाहे जैसा राजा हो, उसके राज्य मे इन दो का कभी भी वध नहीं होता। म्लेच्छ राज्यों में यह नियम नहीं। जहाँ गौ ब्राह्मणों वध हो वही म्लेच्छ राज्य है। इन दोनों की पूजा करना ही प्राणियों के जीवन का परम लाभ है।"

सूतजी कहते है—"मुनियो! यह सुनकर सभी वृद्ध यादवों ने साधु साधु कहकर भगवान् की बात का अनुमोदन किया। सेनापति को आज्ञा दी गयी। प्रथम डोलियाँ सजा दी गयीं उनमें स्त्रियो को बिठाकर समुद्र के उस पार पहुँचाया। जब सब स्त्रियाँ और छोटे छोटे बच्चे तथा वृद्ध पुरुष उस पार पहुँच गये तब उन्हें रथों में बिठाकर शखोद्धारक क्षेत्र को भेज दिया गया। अब जो युवक तथा अधेड यादव बच गये, वे सब भी बडे उत्साह से अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध की सामग्रियों के सहित चल दिये।"

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! तीर्थ यात्रा में अस्त्र सुसज्जित होकर जाने का क्या काम? कैसा भी अधार्मिक राजा हो तीर्थ

यात्रियों पर तो कोई प्रहार करता नहीं। फिर युद्ध की सामग्री लेकर यादव क्यों गये ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! विनाशकाल मे बुद्धि विपरीत बन जाती है। उन्हें परस्पर में कट कर मरना था इसलिए सब की बुद्धि ऐसी ही हो गयी सब बडे उत्साह से समुद्र पार पहुँचे और अपने अपने वाहनों पर चढ गये। युवकों के रक्त में बडी चंचलता होती है। अत वे परस्पर में होड लगा लगा कर घोडों को दोडाने लगे। एक दूसरे से आगे निकलने की चेष्टा करता था। इस लिये वे अति शीघ्र ही प्रभास पट्टन मे पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर सब ने अपने अपने डेरे डाले। समुद्र के तट पर यादवों का पडाव पडा। सभी लोग यह सुने कि भगवान् अपने बन्धु बान्धवों के साथ तीर्थ यात्रा करने आये हैं, परम प्रमुदित हुए। भगवान् की आज्ञानुसार उस दिन सभी ने उपवास किया।

दूसरे दिन बडे बडे वेदज्ञ ब्राह्मण बुलाये गये। बडे बडे ऐन वाली हाल की ब्याई हृष्ट पुष्ट बहुत दूध देने वाली बहुत सी गौएँ मँगायीं गयीं। उनका ब्राह्मणों ने विधि विधान पूर्वक पूजन कराया, उनके सींग सुवर्ण से मढे हुए थे, खुरों मे चाँदी लगी थी, पूँछ मोतियों से गुँथी थीं और कंठ में सुवर्ण की मालायें पहिनायी गई थी। दुशाला उनकी पीठ पर उढाया गया था तथा काँसे की दोहनी तथा और भी बहुत सा समान उनके साथ था। ऐसी असंख्यों गौएँ दान दी गयीं। रत्न लुटाये गये। जितने भी भी ब्राह्मण वहाँ आस पास में थे, सबको यथेष्ट इच्छा भोजन कराया गया था तथा मणि माणिक्य रत्न आभूषण तथा अन्यान्य सुवर्ण वाहन उन्हें दिये गये थे। इस प्रकार वहाँ यथेष्ट दान दिया गया।

जब सब ब्राह्मण दान ले चुके तथा सभी ने बडी रुचि से

तृप्ति पूर्वक भोजन कर लिया तब विप्रों ने यादवों से कहा—'अब आप लोग भी भोजन करें।"

यह सुनकर सबने भोजन करने का निश्चय किया। कल के भूखे थे, सभी को कड़ाके की भूख लगी हुई थी। सबने बड़े प्रेम से मिलकर भर पेट भोजन किया भूखे तो थे ही आवश्यकता से अधिक उड़ा गये। अधिक भोजन करने से इन्द्रियों में चचलता आ गई। उनलोगों मे अधिकाश सुरापान के व्यसनी थे। जब मनुष्यों का धर्म बन्धन शिथिल हो जाता है, तो वह मन मानी करने लगते हैं। स्त्री पर पुरुष की ओर क्यों नहीं देखती। इसी-लिये कि वह धर्म बन्धन में बँधी है। पुरुष दूसरों की बहिन बेटी की ओर कुदृष्टि क्यों नहीं दौड़ाता, इसीलिये कि धर्म कहता है। दूसरों की बहिन बेटी अपनी बहिन बेटी के समान है, दूसरे की स्त्री अपनी माता के समान है। जिनका धर्म बन्धन शिथिल हो जाता है वे पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। सुरापान ऐसा व्यसन है, कि वह धर्म बन्धन को शिथिल कर ही देता है। सुरापान करने वाला कितना ही बड़ा विचारक हो उसे सद् असत् का विवेक नहीं रहता। व्यसनी अपने व्यसन में ही सर्वश्रेष्ठ सुख का अनुभव करता है। यादवों को अबतक तो धार्मिक विधि करनी थी, इसलिये उनकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ उधर ही लगी हुई थीं। अब जब वे भोजन करके निश्चिन्त हो गये तो उन्हे अपने व्यसन की याद आई। एकान्त स्थल समुद्र का किनारा सब युवक युवक यादव एक स्थान में बैठ गये।

उनमें से एक ने कहा—"हाँ, भाई पाठ पूजा तो हो चुकी, अब कुछ शक्ति की भी उपासना हो ?"

दूसरे ने पूछा—"शक्ति की उपासना क्या ?"
उसने हँसकर कहा—"अरे, भाई ! तुम तो भौंदू ही रहे।

कुछ छननी चाहिये। सुरा भवानी के सेवन के बिना न शक्ति सचार ही होता है न मन की प्रसन्नता ही होती है।"

इस पर एक ने डाँटते हुए कहा—'दुष्ट, कैसी बात कर रहे हो। अरे तीर्थ मे कहीं सुरापान किया जाता है। अन्य स्थानों का पाप तीर्थ क्षेत्र मे आकर नष्ट हो जाता है और तीर्थ क्षेत्र में किया हुआ पाप वज्रलेप हो कर लिपट जाता है।"

इस पर वह युवक उत्तेजित होकर बोला—"तीर्थ कहाँ नहीं है। क्या तीर्थ द्वारका नहीं है। तीर्थ का कृत्य हो चुका अब हो हरी हर। बिना शक्ति के आनन्द नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यादवों को तो ब्राह्मणों का शाप पहिले ही मिल चुका था, अतः उन्होने विरोध का कुछ भी विचार नहीं किया। वे अपने साथ एक बहुत ही मादक उत्तेजक मैरेय नामक वारुणी लाये थे। उसके कलश रखे गये और सब सुवर्ण चसकों में भर भर कर पीने लगे। आज सब का संयम शिथिल पड गया था। सभी ने यथेष्ट सुरापान कर ली था, अब इसका जो परिणाम हुआ उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

साधु साधु कहि सबनि हरषि अनुमोदन कीन्हों।
सब प्रभास चलि दये पुण्य हित धनबहु लीन्हों॥
अस्त्र शस्त्र लै संग चले सब तुरँग भगावत।
पहुँचे पुण्य प्रभास उदधि लखि सब हरषावत॥
विधिवत करि उपवास पुनि, पूजि प्रेमतें सुरनि कूँ।
धेनु, धान, धन गज तुरग, दई वस्तु सब द्विजनि कूँ॥

यदुवंश विनाश

(१३२९)

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च,
स्वस्रीयदौहित्र पितृव्य मातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भिः,
ज्ञातीस्त्वहन् ज्ञातय एव मूढाः ॥

(श्री भा० ११ स्क० ३० अ० १८ श्लो०)

छप्पय

तीरथ का करि कृत्य यथा रुचि भोजन कीयो ।
भावी वश फिर सबनि द्रव्य मादक बहु पीयो ॥
करन लगे सब कलह परस्पर देवे गारी ।
सकल भये मदमत्त भाग्य ने बुद्धि बिगारी ॥
धनुष, बान, तोमर, खड्ग, लै लै सब लरिबे लगे ।
हरि-माया मोहित भये, नहिँ कोई रनते भगे ॥

समस्त शास्त्रों का सार सिद्धान्त यही है कि संसार में जो भी कुछ हो रहा है, प्रभु की इच्छा से हो रहा है। सब कुछ दैवाधीन है। जो होने वाला है वह अवश्य होगा, उसे कोई रोक नहीं

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! वे यादव मदिरा के मद में उन्मत्त होकर पुत्र पिता से तथा भाई, भानजे, धेवते, मामा सभी एक दूसरे से लड़ने लगे। मित्रों से मित्र तथा सुहृदों से सुहृद भिड़ गये। इसी प्रकार जातीयगण अपने सजातियों को मारने लगे।"

सकता। प्राणी बिना कुछ किये चुपचाप नहीं रह सकता। इसलिये तुम संसार की किसी भी घटना को देखकर न तो चिन्तित हो ओ न विस्मित। चिन्ता का काम क्या ? जो होना होगा अवश्य होगा, तुम उसे रोक नहीं सकते अन्यथा नहीं कर सकते। जो पैदा होता है प्रभु की इच्छा से होता है, जो मरता है प्रभु की इच्छा से मरता है, जो बात अवश्यम्भवी है, उसके लिये सोच करने से लाभ ही क्या ? तुम्हारे शोक से तुम्हारी चिन्ता से कुछ होने जाने वाला नहीं है। भावी होकर ही रहेगी। विस्मय अथवा आश्चर्य करना भी व्यर्थ है। माया में कुछ भी असभव नहीं। एक नन्हें से सरसों के दाने से भी छोटे वट वृक्ष के बीज से कैसा विशाल वृक्ष बन जाता है। उस छोटे से बीज मे कितना बडा वृक्ष छिपा रहता है, कम आश्चर्य है ? एक छोटे से वीर्य बिन्दु से हाथी जैसा जीव उत्पन्न हो जाता है यह विस्मयोत्पादक बात नहीं तो क्या है। भगवान् की माया में समस्त आश्चर्य जनक ही व्यापार भर हैं। माया में सब कुछ सम्भव है। तुम आश्चर्य करके क्या कर सकते हो।

इस पर आप कहेंगे कि फिर तो साधन भजन पुरुषार्थ सब व्यर्थ ही है। जो होना होगा होता रहेगा हम साधन भजन उद्योग क्यों करें। हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें।" इसका उत्तर तो हम पीछे ही दे आये हैं, कि प्राणधारी बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। कर्म करने को वह विवश है।"

फिर प्रश्न होता है, जब कर्म करने को सभी विवश तो ज्ञानी और अज्ञानी में भेद क्या रहा ? एक घास खोदकर अपनी जीविका चलाता है एक बुद्धि द्वारा लोगों पर शासन करके काम चलाता है। दोनों ही कर्म करने को विवश हैं दोनों ही एक से हैं, फिर ज्ञानी की प्रशसा क्यों, अज्ञानी की निन्दा क्यों ? काम तो दोनों का एक सा ही है।" यह सत्य है कि सब का काम एक सा

है। बुद्धि जीवी शासक या लेखक भी अज्ञानी हो सकता है और एक जावा साधारण घास खोदने वाला भी महाज्ञानी हो सकता है। कामों से ही कोई ज्ञानी अज्ञानी नहीं होता। जिसकी यह भावना दृढ़ है, कि जो कुछ हो रहा है प्रभु प्रेरणा से हो रहा है वह ज्ञानी है, जो मानता है करने वाला मैं हूँ मेरे करने से ही होगा वही अज्ञानी है। इस लिये समस्त साधन और पुरुषार्थों का फल यही है समस्त घटनाओं में समभाव बनाये रखना। यदु कुल का संहार करके भगवान् ने यही शिक्षा दी, कि सभी अवस्थाओं में सम भाव रखो। भावी तो होकर ही रहेगी।

सूत जी कहते हैं—'मुनियो ' प्रभास क्षेत्र में सभी यादव मैरेय नाम की एक अति सुरस अत्यन्त मादक महा मदिरा का पान करके मदोन्मत्त हो गये। युवकों के रक्त में एक तो स्वाभाविक उष्णता होती है, तिस पर भी यथेष्ट सुरापान कर ली जाय— गिलोय वैसे ही कड़वी फिर नीम चढ़ी। बन्दर वैसे ही चपल फिर उसे बीछी से कटा कर सुरा पिला दी जाय। जिस प्रकार उस वानर की चपलता बढ़ जाती है, उसी प्रकार इन उद्धत युवक यादवों की उद्धता पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। वारुणी के पान से सब की आँखें लाल लाल हो गयीं थीं। मदिरा के उन्माद में एक ने दूसरे को गाली दी। इस पर उसने डाँट कर कहा—"देखो जी, तुम धनी होगे तो अपने घर के होगे। अपनी वाणी को सम्हाल कर बोलना।"

उसने गरज कर कहा—"अब मैंने किसी का ऋण तो खाया

नहीं। हमे किसी का भय नहीं तुम अपने को बडा शूर वीर लगाते हो, यदि तुममे कुछ सामर्थ्य है तो आजाओ।"

उसने खड्ग को निकाल कर कहा—"हम दबने वाले नहीं हैं। आजाओ हम तैयार हैं।"

यह कह कर उस पर टूट पडा। कुछ इधर हो गये कुछ उधर। होने लगा संग्राम सब ही धनुषों पर बाण चढा कर एक दूसरे को मारने लगे। वे सब भगवान् की माया से मोहित हो गये थे, सभी सुरा के मद मे अपने आप को भूले हुए थे। सब ने अपने अपने अस्त्र शस्त्र सम्हाल लिये। रथों मे तुरन्त घोडे जोत लिये गये। उनको बँधी हुई पताकायें खोल दी गयीं वे वायु से आकाश मे फहराने लगीं। सभी के ध्वज चिन्ह स्पष्ट दिखायी देने लगे धनुष, बाण, खडग भाला, तोमर, गदा तथा ऋष्टि, आदि अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक समरांगण मे आकर उपस्थित हो गये। अब समर का कोई नियम नहीं रह गया। जिसकी जिस ओर इच्छा हुई उसी ओर वह हो गया। वे सभी परस्पर मे सगे सम्बन्धी थे। उन सबके अस्त्र शस्त्र रथों मे, घोडा, खच्चर, गदहा तथा बैलों की गाडियों मे लदे हुए थे। वे सब के सब प्राणा का पण लगा कर उसी प्रकार लड रहे थे, जिस प्रकार वन में मदोन्मत्त हाथी लडते हों। अथवा बहुत स साँड लड रहे हों। सब सम्बन्धी होने पर भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाने से प्रारब्ध वश परस्पर मे ही शत्रुओं के सदश लड रहे थे। प्रद्युम्न अपने भाई साम्ब से, अक्रूर जी भोज से, अनिरुद्ध सात्यकी जी से तथा

जब अस्त्र शस्त्र सब समाप्त हो गये तब वे युद्ध करने को कोई अन्य वस्तु खोजने लगे। सम्मुख ही उन्होंने सरकंडों का

एक सघन वन देखा। अब तो वे सब के सब उन्हीं पर टूट पड़े। सब ने मर कंडे उखाड़ लिये और उन्हीं से वे लड़ने लगे।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूत जी शर पत्र या सर कंडे के पत्ते तीक्ष्ण अवश्य होते हैं, उनसे उँगली चिर जाती हैं। और भी जहाँ शरीर में लग जायँ, तहाँ रक्त निकल आता है, किन्तु उनसे युद्ध हो सकता है यह बात हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। वे कैसे शर पत्र थे जो अस्त्र शस्त्रों के कंठित हो जाने पर युद्ध में काम देते रहे ?

सूत जी ने कहा—"महाराज ! जिसकी जिससे मृत्यु निश्चित होती है उसके लिये वह साधारण होन पर भी वज्र हो जाती है और जिसकी जिससे मृत्यु नहीं होती वह वज्र होने पर भी कुंठित हो जाता है वज्र उसका कुछ बिगाड नहीं सकता। देवेन्द्र का वज्र अमोघ है उससे उन्होने नमुचि को मारा वह नहीं मरा, किन्तु जब उन्होंने समुद्र के फेन का वज्र बनाया तो उससे मर गया। कहाँ इतना तीक्ष्ण वज्र और कहाँ परम मृदुल समुद्र का फेन। मृत्यु तो संयोग को ढूँढती है। यादव गण जिन सरकण्डों से लड रहे थे, वे साधारण सरकण्डे नहीं थे। शाम्ब के उदर से जो ब्राह्मण के शाप से कुल नाशक मुसल निकला था और जिसे रेती से रितवा कर महाराज उग्रसेन ने समुद्र मे फिंकवा दिया था, वह लोह चूर्ण जल मे बैठा नहीं। जल पर उतराता उतराता समुद्र को लहरों के साथ बहता हुआ प्रभास के निकट आकर किनारे लग गया। उन्हीं लोह कणों से असंख्यों शरपत के वृक्ष उत्पन्न हो गये। वे यदुवंशियों के विनाश के ही निमित्त उत्पन्न हुए थे। अतः ज्यों ही यादव वीरों ने उन्हें उखाड उखाड कर मुट्ठियों मे लिया त्यों ही वे लोह दंड तथा वज्र के समान बन गये। जो भी जिसमे उन्हें मार देता वही कला मुंडी खाकर गिर पडता और प्राण हीन हो जाता। अब तक भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी तथा बलदेव जी तटस्थ भाव से देख रहे थे, अब जब उन्होंने देखा, कि लाखों वार धराशायी हो रहे हैं, तो उन्होंने बीच में खडे होकर कहा—"अरे, यह क्या करते हो ? अपने ही कुल वालों को मार रहे हो।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! उन सब की तो बुद्धि विपरीत हो गयी थी, उन सब के तो सिर पर काल नाच रहा था। वे तो मृत्यु के मुख में जाने को उद्यत थे। उन्होंने समझा ये श्री कृष्ण बलराम हमारे शत्रुओं का पक्ष कर रहे हैं, अतः ये भी हमारे

शेष नहीं रहा। अब मुझे भी इस धरा धाम का परित्याग कर देना चाहिये।" यह सोचकर भगवान् समुद्र की ओर बढ़े।

संकर्षणावतार भगवान् बलदेव अपने स्वामी के हृद्गत भाव को समझ गये अतः भगवान के धराधाम परित्याग के पूर्व ही उन्होंने अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाने का निश्चय किया। वे एक समुद्र तट की गुफा में बैठ गये, कुछ ही क्षणों में उनका मानव शरीर अदृश्य हो गया और वे एक बड़े भारी सर्प के रूप में परिणत हो गये। भगवान ने उन महा काय फणीन्द्र के दर्शन किये। और तो कोई वहाँ था ही नहीं जो दर्शन करता समुद्र तट पर समस्त यादवों के कटे हुए धड़ और सिर पडे हुए थे। परात्पर प्रभु तो हर्ष शोक से सदा रहित ही हैं। इसलिये न उन्हें कुछ शोक हुआ न हर्ष। वे जैसे के तैसे ही स्वस्थ शान्त बने रहे।

सूत जी कहते हैं—'मुनियो! जब भगवान् ने देखा मेरे ज्येष्ठ बन्धु भी अदृश्य हो गये तब उन्होंने भी स्वधाम गमन का निश्चय कर लिया। वे समुद्र तट के एक परम दिव्य अश्वत्थ वृक्ष के नीचे देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारण करके-अपनी प्रभा कान्ति से दशों दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए—निर्धूम अग्नि के समान सुशोभित हुए। अश्वत्थ से सट कर उसका सहारा लेकर अपने एक चरण के ऊपर दूसरे चरण को रख कर सुख पूर्वक बैठ गये। अब भगवान् जिस प्रकार स्वधाम पधारने का निमित्त बनावेंगे वह पुण्य प्रसंग आगे कहा जायगा।

छप्पय

धनुष गये सब टूटि बान तूनीर रहे नहिँ।
तटपै सम्मुख मुसल चूर्ण के सरपत निरखहिँ॥
तिनिकूँ तुरत उखारि परस्पर सब ही मारें।
वज्र सरिस बनि जायँ सकल यादवनि सँहारें॥
राम श्याम बरजन लगे, इनकूँ हू मारन लगे।
ये हू सरपत लै भिडे, गिने न सम्बन्धी सगे॥

—:०:—

भगवान् के स्वधाम पधारने का निमित्त

(१३३०)

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्‌गतयो गृणीमः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३० अ० ३८श्लो०)

छप्पय

सब कटि कटि गिरि गये बच्यो नहिँ कोई यादव।
लखि निज वंश विनाश भये प्रमुदित अति माधव॥
बल अन्तरहित भये, भये अहि तजि मानुष तन।
उदधि तीर अश्वत्थ तहाँ पहुँचे यदुनन्दन॥
रूप चतुर भुज दिव्य अति, दिशनि करत आलोक मय।
श्याम वरन श्रीवत्स युत, धारें कुडल वर वलय॥

सब कार्यों का कोई न कोई निमित्त होता है, बिना निमित्त के कोई कार्य नहीं होता। होगा तो वही जो होने को होगा, उसमें कोई न कोई निमित्त बन जाता है। इसीलिये भगवान् ने अर्जुन

---

* हरिन के भ्रम से भगवान् के पाद पद्मों में बाण छोड़ने के अनन्तर व्याध कह रहा है—"हे नाथ! जिन आपके आत्मयोग रचित प्रपञ्च को स्वयं ब्रह्माजी नहीं जानते और सम्पूर्ण विद्याओं के पति उनके पुत्र

से कहा था, ये जो तुम्हें भीष्म द्रोण, कर्ण तथा शल्य बड़े बड़े योद्धा दिखायी दे रहे हैं। इन सब को तुम जीवित मत समझो। मैंने जहाँ संकल्प किया तहाँ ये मर गये। अब केवल उन्हें मृत्यु के मुख में फेंकना शेष है सो तुम केवल निमित्त मात्र बन जाओ। तुम न मारोगे, तो भी ये तो मरेंगे ही। इनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, फिर तुम बहती गंगा में जौ क्यों नहीं धो लेते। अनायास प्राप्त होने वाले सुयश को क्यों नहीं ग्रहण कर लेते। तुम्हारा मना करना व्यर्थ है, क्योंकि इनकी मृत्यु का निमित्त तुम्हें ही बनना है, यह तो पहिले से ही निश्चित है। जन्म के प्रथम ही मृत्यु का विधान बन जाता है, उसके निमित्त का भी निर्णय हो जाता है। ज्योतिर्विद् देखकर बता भी देते हैं, कि अमुक निमित्त से इनकी मृत्यु होगी। ब्रह्माजी का मृत्यु को यह वरदान है, कि वह किसी न किसी को आगे करके—उसे निमित्त बनाकर—आती है। टट्टा की आड में से आखेट करती है। इसलिये उसे कोई भला बुरा नहीं कहता। सब निमित्त को ही दोषी ठहराते हैं। भगवान् भी जब संसार में अवतरित होते हैं, शरीर धारण करते है, तो सब कामों के लिये किसी न किसी को निमित्त बना लेते हैं। होता है सब कुछ उन्हीं की एकमात्र इच्छा से।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् ने देखा, भूमि का भार उतर गया। असह्य यादव कुल का संहार हो गया। अब अवनि पर कोई कृत्य अवशेष नहीं रहा, और मेरे अंश बलदेवजी भी अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो गये उन्होंने मनुष्य शरीर का परित्याग कर दिया, तो स्वयं भी उन्होंने स्वधाम गमन का निश्चय कर लिया। जिनको स्वयं उत्पन्न किया वे सब के सब मरे

रुद्रादि भी नहीं जानते। क्योंकि तुम्हारी माया से इन सब की दृष्टि भी आवृत है, हम तो स्वाभाविक ही क्रूर हैं नीच योनि वाले हैं, तो फिर हम इस विषय में कह ही क्या सकते हैं।"

पड़े हैं। किसी का सिर धड से पृथक् होने पर भी तड़फड़ा रहा है, किसी का हाथ कटा है, किसी का आँते निकल रही हैं, कोई शरीर कटने पर भी गर्ज रहा है इस प्रकार योजनो तक मृतकों के शरीरो पर ही पैर रखते हुए-हँसते हुए श्यामसुन्दर एक सुन्दर अश्वत्थ वृक्ष के नीचे आ गये। अश्वत्थ उनका रूप ही है। इसीलिये उसकी सुन्दर सघन शीतल छाया में आकर बैठ गये। लीला संवरण का उनका संकल्प दृढ़ था। जिस प्रकार वे कारा-वास की शान्त एकान्त कोठरी मे अकेले ही आविर्भूत हुए थे उसी प्रकार आज शान्त एकान्त स्थान में तिरोहित होने की लीला भी सम्पन्न करना चाहते हैं, क्योंकि ये परोक्ष प्रिय हैं। रहस्यवाद इन्हे अत्यत प्रिय है। और सब काम तो सबके समक्ष बडी धूम धाम से किये, किन्तु आविर्भाव-तिरोभाव की लीलायें वे सबके सम्मुख नही करते। यदि जीव आविर्भाव तिरोभाव के मर्म को समझ जाय, तो फिर वह चोरासी के चक्कर मे पड़े ही क्यो, विमुक्त ही बन जाय। भगवान् तो सदा सर्वदा एक रस ही हैं, किन्तु लीला के अनुरूप वे कभी क्रोध व्यग्रता चिन्ता तथा शोक के भावो को भी व्यक्त करते हैं। यद्यपि ये सब भाव होते हैं कृत्रिम ही, फिर भी लोगो को लोकवत् सत्य ही दृष्टिगोचर होते हैं।

आज भगवान् का मुख मंडल परम गंभीर था, उस पर मंद मंद हास्य की सुखमय सुन्दर किरणें छिटक रही थीं। आज उन्होने दिव्य चतुर्भुज रूप धारण कर रखा था। अपनी भुवन मोहिनी सरस कान्ति से दशों दिशाओं को आलोकित कर रहे थे। वे जाज्वल्यमान धूम्रहीन अग्नि के समान सुशोभित हो रहे थे। उस समय की उनकी शोभा अनिर्वचनीय थी। वे पीपल के सहारे पीठ सटाकर बिना आसन के भूमि पर ही बैठे थे। उनकी मुखाम्बुज श्री अत्यंत शान्त गम्भीर तथा तेज पूर्ण थी, वाणी के

व्यापार को रोक कर वे मौन होकर स्वस्थ चित्त से विराजमान थे। उनके दिव्य मङ्गलमय श्री विग्रह का स्वरूप फूली हुई अलसी के समान, अत्यत सघन अत्यंत हरी दूर्वा के समान, जल भरे मेघों के समान मयूर के कंठ के समान तथा नीले सहस्र दल कमल के समान श्याम वर्ण का था। वक्षःस्थल में श्री वत्स का चिन्ह सुशोभित हो रहा था। तपाये हुए सुवर्ण के समान पीले रंग के दो दिव्य रेशमी वस्त्र प्रभु धारण किये हुए थे। एक को पहिने थे, एक को ओढ़े हुए थे। उनके किनारे चौड़े और सुन्दर थे, उन पर सुवर्ण के अत्यंत ही सूक्ष्म बेलबूटे कढे हुए थे। वायु वेग से हिलने पर उनका श्री विग्रह पीताम्बरों के बीच से इसी प्रकार चमकने लगता था मानो विद्युत् के बीच से जलपूर्ण घन चमक रहा हो। सुवर्ण मुकुट के भीतर से नीली नीली अलकावली वायु में विथुर कर श्री मुखका मार्जन सी करती दिखायी देती थीं। विशाल भाल पर दिव्य तिलक शोभा दे रहा था। कानों में कमनीय कुण्डल हिल हिलकर कपोलों से मिल रहे थे, उन्हें बार बार स्पर्श करके उनकी कान्ति को बढा रहे थे। उत्फुल्ल कमल के समान दो दिव्य नेत्र अपनी मधुमय दृष्टि से वहाँ के वातावरण को सरस बना रहे थे। लाल लाल मृदुल गुदगुदे अधरों पर मधुर मंद मुसकान छिटकती हुई क्रीडा कर रहे थे। गोल गोल कपोल कुछ उभरे हुए नयनों की ओर बढ रहे थे। मकराकृत कुण्डलों के झिल मिलाहट, कपोलों की श्री और नेत्रों की आभा तीनों मिलकर प्रभास में त्रिवेणी का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। कंठ में हार चमचमा रहे थे। कधे पर पड़ा यज्ञोपवीत कुछ शिथिल सा हो रहा था। विशाल भुजाओं में बंधे बाजूबन्द अपने गौरव पर हिलते हुए हँस रहे थे। सुवर्ण के कंकण कर कमलों की आभा में मिलकर दमक रहे थे उँगली की अँगूठियों की नगों की कान्ति छिटक कर नीला नीला प्रकाश

बखेर रही थीं। वनमाला कौस्तुभमणि से स्पृहा करती हुई वक्षः-स्थल से सटकर अपना स्नेह व्यक्त कर रही थीं। कटि की करधनी शान्त सटी होने पर भी कभी कभी कण कण करके उस प्रशान्त प्रान्त को यदा कदा मुखरित कर देती थी। चरणों के नूपुर वायु में हिलकर एक अव्यक्त स्वर लहरी की सृष्टि कर रहे थे। वनमाला टेढ़ी होकर चरण स्पर्श करने को व्यग्र सी प्रतीत होती थी। वह कंठ से चरणों तक सटकर स्पर्श सुख के कारण पुलकित सी प्रतीत होती थी। आज भगवान् के शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म ये दिव्य आयुध सजीव मूर्तिमान होकर स्वामी की सेवा में समुपस्थित थे। भगवान् श्यामसुन्दर अरुण कमल के सदृश शोभायमान अपने वाम चरण को दक्षिण जंघा पर धारण करके विराजमान थे। उस समय की श्यामसुन्दर की शोभा अकथनीय तथा अनुपम थी।

उस समय समीप के सघन वन में आखेट के निमित्त जरा नामका व्याध विचरण कर रहा था। जिस अश्वत्थ के नीचे श्यामसुंदर विराजमान थे, उसी के सम्मुख प्रायः आधे कोश की दूरी पर एक सघन वट वृक्ष था। उस वट वृक्ष की आड़ में छिपा व्याधा चंचल दृष्टि से चारों ओर निहार रहा था। वह किसी चुपचाप बैठे असावधान मृग पर अपना बाण छोड़ने को व्यग्र था। उसे दूर से भगवान् का मुड़ा हुआ चरणारविन्द मृग के मुख सा प्रतीत हुआ। उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा उसने सोचा वृक्ष के नीचे चमकीली बालुका में बैठा हुआ मृग जुगार कर रहा है। लक्ष्यभेदी बाण छोड़ना तो वह जानता ही था। भगवान् के मुड़े हुए चरण को लक्ष्य करके उसने एक विष बुझी कील वाला बाण छोड़ ही तो दिया। बाण लक्ष्य पर जाकर लगा। भगवान् का अति सुकुमार परम मृदुल, योगिजन पूजित

विश्व वन्दित चरणारविन्द उस बाण से विंध गया भगवान् की इच्छा पूर्ति हुई।

इसपर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाभारत की लडाई मे जहाँ अनवरत बाणों की वर्षा होती रहती थी, वहाँ भगवान् को बड़े बड़े दिग्विजयी वीर कुछ क्षति न पहुँचा सके और यहा साधारण से व्याध ने ऐसा बाण छोडा कि भगवान् को अपना श्रीविग्रह त्यागना पडा, यह क्या बात है?"

सूतजी बोले—"महाराज! यह सब भगवान् की लीला है बात क्या है, भगवान् तो भक्तवत्सल हैं न? वे तो सभी की अच्छी बुरा खोटी खरी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। सूर्पणखा ने काम की इच्छा की थी, दूसरे जन्म मे वह कुब्जा हुई भगवान् ने उसकी इच्छा पूर्ण की। बलि की पुत्री ने पुत्र के सदृश दूध पिलाने की इच्छा का दूसरे जन्म मे वह पूतना हुई भगवान् न उसका स्तन पान किया और उसे सद्‌गति दी। रामावतार में भगवान् की धोबी ने निन्दा की। उसे इस जन्म में वध करके सद्‌गति प्रदान की इसी प्रकार जिस भक्त की जैसी भी भावना रही भगवान् ने उसे उसी प्रकार पूरा किया। किसी ने शाप दिया तो उसे भी स्वीकार किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के चरण कमलो म बाण वेधने की भावना किसकी हुई। भगवान् को शाप किसने दिया। कृपया इसका कारण हमें बतावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! इसका एक कारण थोडे ही है। अनेकों कारण हैं, उनमें से कुछ कारण मैं आपको सुनाता हूँ।

१

जब गान्धारी के सौ के सौऊ पुत्र मारे गये, तब भगवान् उसे सान्त्वना देने गये। पुत्र शोक के कारण वह व्याकुल हो रही थी। भगवान् को सम्मुख समझकर वह बोली—"हे यदुनन्दन आपने

सर्व समर्थ होने पर भी इस हमारे वंश विनाश को नहीं रोका हमारे कुल का संहार करा दिया, अतः मैं भी आपको शाप देती हूँ, कि आप के कुल का भी ऐसे ही संहार हो। जैसे हमारे कुल वाले आपस में लडकर मरे हैं वैसे ही आपके कुल वाले परस्पर में लड कर मरें और आप भी निजन एकान्त में अपनी लीला का संवरण करें। भगवान् ने उसके शाप को शिरोधार्य किया और उसे सत्य करने को ही यह लीला रची।

२

धर्मराज के राजसूय यज्ञ मे भगवान् ने समस्त आगत विप्रों के के चरण पखारने का काम स्वयं ही स्वीकार किया था। जो भी ऋषि मुनि तथा अन्यान्य ब्राह्मण आते उन सब के स्वयं भगवान् चरण पखारते उसी समय दुर्वासा मुनि आये। भगवान् ने उनके चरण पखारे तो सही, किन्तु एक पैर में कीचड़ लगी रह गयी। उसे देखकर मुनि को क्रोध आ गया और उन्होंने शाप दिया—"मेरे पैर मे जहाँ कीचड लगी रह गयी है, वहीं आपके बाण लगेगा और उसी कारण आप शरीर त्याग करेंगे।

३

भगवान् के चरण में एक कमल का चिन्ह था भगवान् का किसी ने शाप दिया, कि इस कमल में आकर जब बाण लगेगा तभी आप शरीर त्याग करेंगे।

४

रामावतार मे भगवान् ने वाली को छिपकर मारा था। जैसे व्याध छिपकर मृग को मारता है उसी प्रकार उसका वध किया था। उसी का बदला लेने वालि जरा नाम का व्याध बना और उसने छिपकर मृग समझकर भगवान् के चरण को वेध दिया। मरते समय जो उसकी वासना रह गयी थी, उसे पूरा किया।

(५

ब्राह्मणों का शाप था, कि
महाराज उग्रसेन ने उस लोहे
भस्म बना दी कि वह जल में भ
की पहिचान ही यह है कि वह
से फिर फिराये नहीं। जल में
वह प्रभास के किनारे लग
उन्हीं से समस्त यादवों का ना
कील शेष रह गयी वह किसी
उसे वैसे ही समुद्र में फेंक दि
संयोग की बात वह मछली
पेट चीरने पर वह कील
बाण बना लिया। उसी बाण
वेधा। उसे सत्य करने को
अतिरिक्त भी और अनेकों
सुनाना नहीं चाहता।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ,
से ही संयोग जुटा देते हैं।

सूतजी बोले—"महाराज
जो होना था सो तो हो गया
मरे हुए मृग को लेने के लिये
जानता था। उसने कई बार
भगवान् के श्री चरणों में
धक्का रह गया और भाँति

करने लगा। अब उसकी स्तुति पर जैसे भगवान् ने उसे आश्वासन देकर सद्गति दी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वाम चरन कूँ धरें दाहिनी जघापै हरि।
पीपल पीठि सटाइ बिराजे वंश नाश करि॥
शंख चक्र अरु गदा पदम, सशरीर विराजें।
कुंडल कंकन मुकुट करधनी अगनि भ्राजें॥
जरा व्याध वन में छिप्यो, मुसलकील को बान करि।
सुखासीन मृग के सरिस, परे दूरि तें दृष्टि हरि॥

—::०::—

व्याध को सद्गति

(१३३१)

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥८

(श्री भा० ११ स्क० ३० अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

हरिनि समुझि तकि बान चरन महँ ब्याधा मारयो ।
दौरयो पकरन तुरत निरखि हरि ज्ञान बिसारयो ॥
पद पदमनि महँ परयो कहै नहिं नाथ रिसावें ।
मारयो उनि पद बान जिनहिं मुनि जोगी ध्यावें ॥
मापर मोकूँ मारिकें, देहिं दण्ड दानव दलन ।
पुनि न करूँ अपराध अस, शिक्षा पावें अशरन ॥

जीव संसार में पेट के लिये भटकता रहता है। संसारी वस्तुओं के लिये लालायित होकर कर्म करता है। आत्मवत संसारी वस्तुओं की खोज करते करते उसका किसी भी प्रका

भगवान् से सम्बन्ध हो जाय, सकाम कर्म करते करते कभी सब कामनाओं के पूर्ण करने वाले प्रभु से सम्बन्ध हो जाय, तो उसका आवागमन छूट जाता है। वह परमपद का अधिकारी बन जाता है। शुभ अशुभ कर्मों की जहाँ परि समाप्ति हो जाती है, वहीं प्रभु के पाद पद्म प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु दर्शनों के अनन्तर भी प्रभु की इच्छा से कोई वासना शेष रह जाती है तो प्रभु ही स्वयं अपने उस अनन्याश्रित भक्त की इच्छा पूर्ण करते हैं। वाञ्छा कल्पतरु भगवान् वासुदेव से सम्बन्ध हो जाने पर पाप पुण्य सभी समाप्त हो जाते हैं फिर वह प्रभु का अपना हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जरा व्याध ने देखा, कि जिसे मैंने मृग का मुख समझकर अपने बाण का लक्ष्य बनाया वह तो भगवान का भुवन पावन पादारविन्द है। जिन्हें मैंने हरिन समझा था। वे तो साक्षात् हरि हैं, तब तो उसकी व्याकुलता का ठिकाना नहीं रहा। भय के कारण उसका सम्पूर्ण शरीर थर थर काँप रहा था वह अपने को अक्षम्य अपराधी अनुभव कर रहा था, वह अत्यन्त दीन होकर भगवान् की शरण में आया और विह्वल होकर उनके चरणों में गिर पड़ा। अत्यन्त ही कातर वाणी से वह विनय करने लगा—'हे वासुदेव! मैं अत्यन्त नीच हूँ, हे मधुसूदन मैं महामूर्ख हूँ। नाथ! मुझ दीन हीन मति मलीन साधन हीन अपराधी को क्षमा करें। हे अशरण शरण! अनजान में मुझसे यह अपराध बन गया। हे उत्तम श्लोक! मेरी बुद्धि में भ्रम हो गया। हे अनघ! साक्षात् श्री हरि को मैंने हरिन समझा। हाय! जिन चरणों पर चन्दन, पुष्प चढ़ा चढ़ाकर भक्तगण परम प्रमुदित होते थे, उन्हीं चरणों को मैंने बाण से बेधकर रक्त रञ्जित कर दिया। जिन से निसृत अमृत त्रिभुवन को पावन करता है उन्हीं में मैंने तीक्ष्ण विष से बुझा बाण मार दिया। जिन पादारविन्दों का ध्यान योगी जन मुक्ति की कामना से करते

हैं उन्हीं को मैंने कष्ट दिया। जो चरण निरन्तर जग हित में निरत रहते हैं उन्हीं का मैंने अहित किया। मैंने जीवन में कभी पुण्य नहीं किया। जो मृग कभी किसी का अहित नहीं करते। वनों में सदा स्वछन्द विचरते रहते हैं और अपने आप उत्पन्न होने वाले तृण का खाकर जीवन यापन करते हैं। उन्हीं निरपराध मृगों का मैं निरन्तर पेट के लिये मार कर पाप करता रहता था। आज तो पाप पराकाष्ठा पर पहुँच गया। परब्रह्म परमात्मा को पशु समझ कर पीडित किया। प्रभो! आप मुझे मेरे भीषण पाप के लिये दण्ड दीजिये। तुरन्त ही मेरे सिर को धड से पृथक् कर दीजिये, जिससे फिर ऐसा अक्षम्य अपराध मुझसे अगले जन्मों में न बन सके। महापुरुषों का अपचार करके तो मुझे नरकों में भी स्थान न मिलेगा।

हाय! दीनानाथ! क्या कहूँ, किन शब्दों में अपने घोर पाप के लिये पश्चात्ताप प्रकट करूँ। प्रभो! आपका पाना तो प्राणियों के लिये अत्यन्त कठिन है ही आपकी माया का ही पार पाना ब्रह्मादि बड़े बड़े देवों को शंकर आदि योगीश्वरों को तथा सनकादि ब्रह्मपुत्रों को अत्यन्त कठिन है, स्वयं आपके सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। जो सम्पूर्ण विद्याओं में पारगत हैं, जिनके वचन विवाद के स्थलों पर प्रमाण माने जाते हैं वे कभी कभी आपकी माया के चक्कर में पड जाते हैं, क्योंकि आपकी मोहिनी माया प्राणियों की दृष्टि को अपने चरम चोर से आवृत कर लेती है। जब इतने बड़े तपस्वी, तेजस्वी, ऋषि मुनि भी माया मोहित हो जाते हैं तो फिर हम जैसे पापियों का तो कहना ही क्या, जिनकी स्वाभाविकी रुचि पाप में ही बना रहती है, जो निरन्तर पाप ही करते रहते हैं। हे भक्त वत्सल, मैं जाति का व्याधा हूँ, प्राणियों की हिंसा करना ही मेरा काम है। दान, धर्म, पुण्य

तथा परोपकार आदि सत्कर्मों को मैं जानता तक नहीं। अतः प्रभो! मुझे मेरे अपराध के लिये समुचित दंड दें।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! जब जरा व्याध अत्यन्त दीन हकर प्रभु के पाद पद्मों मे पडा पड़ा ही अपने पाप के लिये पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ दड के लिये पुनः पुनः प्रार्थना करने लगा, तब मन्द मन्द मुस्कराते हुए माधव बोले—"अरे, जरा! तू भैया! इतना भयभीत क्यों हो रहा है, तू उठकर खडा तो हो, मेरे बात तो सुन तू क्यों रो रहा है। क्यों इतना विह्वल हो रहा है?"

जरा ने रोते रोते कहा—'भगवन्! मैंने आपके श्री चरणों में आघात जो पहुँचाया है। इन्हें वाण के प्रहार से क्षत जो किया है।"

हँसते हुए श्यामसुन्दर बोले—'अरे, मैं तो कालका भी काल हूँ, मुझे भला कौन मार सकता है। सब का आधार तो एकमात्र मैं ही हूँ, फिर मुझे दूसरा कौन आघात पहुँचा सकता है। तेरा क्या साहस जो मेरी ओर दृष्टि उठाकर भी देख सके। यह जो भी कुछ हुआ है, एकमात्र मेरी इच्छा से ही हुआ है, मैं ऐसा कराना चाहता था, तुझे निमित्त बनाना था, इसलिये मैंने तेरे हाथ से ऐसा कराया। संसार में सब कुछ मेरी ही इच्छा से हो रहा है। मेरी इच्छा से ही वायु बहती है, मेरी इच्छा से ही सूर्य चन्द्र उदय और अस्त होते हैं, मेरी ही इच्छा से दिन रात्रि, जनम मरण, सुख दुख, पुण्य पाप, यश अपयश तथा अच्छे बुरे कर्म आदि होते हैं। तैंने अहंकार वश कुछ किया होता, तो उसका तुझे फल भोगना पडता तैंने तो मेरी इच्छा का पालन किया, मैंने तेरे ऊपर कृपा करके तुझसे यह कठिन कार्य करा लिया। अब तू मेरी ही इच्छा से उन पुण्य लोकों में जा, जिनके

पापी लोग दर्शन भी नहीं कर सकते। जहाँ सुकृतिजन ही जा सकते हैं। जो अत्यन्त पुण्यवानों को ही प्राप्त होते हैं। उन लोकों

में तू यथेष्ट भोग भोगकर फिर तू मुझे प्राप्त होगा। देख, तुझे लेने के लिये यह दिव्य विमान समुपस्थित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान का यह कहना ही था, कि उसी समय सैकड़ों सूर्यों के सदृश प्रकाशमान एक दिव्य विमान वहाँ आकर समुपस्थित हुआ। वह सम्पूर्ण दिव्य सुवर्ण का बना था। जिसमें मणि माणिक्य दमक रहे थे। श्वेत हंस उसमें लगे हुए थे। चतुर्भुज विष्णु पार्षद उसमें विराजमान थे। दिव्य अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं और गन्धर्व दिव्य गान गा रहे थे। उस अत्यद्भुत विमान को देखकर जरा भौंचक्का सा रह

गया। देखते देखते उसका शरीर भी दिव्य बन गया। उसने स्वेच्छा शरीरधारी भगवान् वासुदेव की विनती की, विधिवत् पूजा करके तीन परिक्रमायें कीं और बार बार चरणों में प्रणाम करके उसने विमान में चढकर पुण्य लोकों को प्रस्थान किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जरा व्याध के प्रस्थान करने के अनन्तर पुण्य श्लोक शिखामणि भगवान् वासुदेव ने क्या किया इसे सुनने की हमारी इच्छा है, दया करके उस करुण प्रसङ्ग को आप सुनावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जरा के चले जाने पर भगवान् का दारुक नामक सारथी उनकी खोज करते करते भगवान् के निकट आ पहुँचा। अब जिस प्रकार दारुक से भगवान् का सम्वाद होगा उस पुण्य प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

यदुनन्दन हँसि कहें–"जरा! भय मत कछु खाओ।
मम इच्छा तैं भयो उठो सुरलोकनि जाओ॥
विनती बहु विधि करी दिव्य तनु व्याधा धारयो।
चढिकें दिव्य विमान बन्दि पद स्वरग सिधारयो॥
इत दारुक नहिँ लखे प्रभु, खोजत खोजत चलि दयो।
चरन चिन्ह पहिचानि कें, कछु कछु आशान्वित भयो॥

—::o::—

दारुक और भगवान् वासुदेव

(१३३२)

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतम् ,
अश्वत्थ मूले कृतकेतनं पतिम् ।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ३० अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

चरन सहारे आइ लखे पीपर तर यदुवर ।
रथ तें उतरयो तुरत परयो चरननि में आतुर ॥
रोय रोय यों कहे—"नाथ ! सूनों तुम बिनु जग ।
भई नष्ट मम दृष्टि घिरयो तम नहिं सूझत मग ॥
इत रोवत सारथि सतत, उत गरुडध्वज रथ तुरत ।
उड्यो गगन घोड़नि लिये, लीन भयो आयुध सहित ॥

पहिले भगवान् आते हैं, तब उनके अस्त्र, आयुध, वाहन तथा अन्यान्य उपकरण आते हैं। जब भगवान् जाने लगते हैं,

---

* श्रीशुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! चरणचिन्हों के सहारे सारथी ने आकर अपने स्वामी को अश्वत्थ तरु के नीचे आसन लगाये तथा तेजोमय मूर्तिमान् आयुधों से आवृत देखा। उन्हें देखते ही वह तुरन्त रथ से कूद पड़ा और प्रेमातुर होकर प्रभु के पादपद्मों में पड़ गया। उस समय इसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं।"

तब प्रथम अपने उपकरणों को विदा कर देते हैं, तब स्वय जाते हैं। भगवान् के बिना उनके अस्त्र आयुध और वाहनों का उपयोग ही क्या ? भगवान् को वस्तुओं का उपयोग भगवान् ही कर सकते हैं। यह आना जाना लोला में ही बन सकता है। सर्व व्यापक सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर में तो आना जाना बनता ही नहीं, वे तो सदा एक रस एक भाव से रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जराव्याध को भगवान् ने सद्गति दी और वे स्वयं भी स्वधाम पधारने के लिये उद्यत हुए। यहीं अश्वत्थ के नीचे बैठकर उन्होंने मैत्रेय मुनि को भागवत का उपदेश दिया। उद्धवजी भी भगवान् के पीछे पीछे प्रभास आ गये थे, चरणपादुका ले लेने पर भी भगवान् का वियोग उनके लिये असह्य हो गया। भगवान् ने दोनों को अन्तिम उपदेश दिया। अब उन्हें दारुक को समझाना और शेष था, किन्तु दारुक वहाँ था नहीं। सब यादव परस्पर में लड़कर कट मरे, सब के रथ टूट गये घोडा मर गये। किन्तु भगवान् का रथ तो दिव्य था। वह तो भगवान् की ही भाँति नित्य तथा चिन्मय है। दारुक उसे लिये हुए घूम रहा था। अब उसने देखा समस्त यादवों का संहार हो गया है, तो उसे बड़ा दुःख हुआ, वह अपने स्वामी भगवान् वासुदेव को खोजने लगा। उसे संदेह होने लगा कि भगवान् भी तो कहीं स्वधाम को नहीं पधार गये। वह भगवान् के श्री अङ्ग को समर भूमि में खोजने लगा। फिर उसने सोचा—'भगवान् इस प्रकार प्राकृत पुरुषों की भाँति अपने श्री विग्रह का त्याग न करेंगे। वे मुझे बिना अंतिम दर्शन दिये लीला संवरण भी नहीं कर सकते। अवश्य ही वे कहीं इधर उधर समीप में ही विराजमान होंगे। यही सब सोचकर सारथी चारों ओर रथ को घुमाता हुआ विचरण करने लगा। सहसा उसे भूमि पर उभरे हुए भगवान् श्यामसुंदर के वज्र, अंकुश, ध्वज तथा,

पद्मादि चिह्नों से चिह्नित चरण चिह्न दिखायी दिये। उन चरणों के दर्शनों से उसके हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उसने समझ लिया श्यामसुदर अभी अभी इधर से ही गये हैं। अब तो उसे एक आधार मिल गया। उन्हीं चरण चिह्नों के सहारे सहारे वह समुद्र तट तक आ गया। दूर से ही उसे अश्वत्थ के सहारे विराजमान अपने स्वामी भगवान् वासुदेव दिखायी दिये। आज उनके शख, चक्र, गदा और पद्म ये आयुध सशरीर मूर्तिमान् होकर सम्मुख अवस्थित थे। भगवान् परम शान्त मुद्रा में विराजमान थे। दूर से ही स्वामी को देखकर वह सहसा रथ से कूद पडा और दौडकर उनके चरणों में पड गया। उस समय की सूत की अवस्था अकथनीय थी। प्रेमाधिक्य के कारण उसके रोम रोम खिल रहे थे। नेत्रों से निरतर अश्रुओं की दो अविरल धारायें बह रही थीं। अपने अश्रुओं से अच्युत के चरणारविंदों को धोता हुआ गद्-गद् वाणी से दारुक कहने लगा—"हे मेरे स्वामी! तुम मुझे छोडकर कहाँ चले आये थे, मुझे तो तुम्हारे विना यह सम्पूर्ण ससार सूना सूना प्रतीत होता है। हे प्रभो! तुम ही तो मेरे नयनों के प्रकाश हो। तुम्हारे ही द्वारा तो मैं देख सकता हूँ। जैसे रात्रि मे चद्र के अस्त हो जाने पर चारों ओर अधकार ही अधकार दिखायी देता है उसी प्रकार आपके विना मेरी आँखें घोर अंधकार से आच्छादित हो गयी हैं। दृष्टि नष्ट हो गयी है, मुझे कुछ भी नहीं सूझता है। हे नाथ! क्या आप इस धराधाम से पधारना चाहते हैं? प्रभो! क्या आप इस अवनि को श्री हीन करने का विचार कर रहे हैं? हे अशरण शरण! मेरा परित्याग न करें। मुझे अपने साथ ले चलें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दारुक प्रभु के पैरों में में पडकर इस प्रकार प्रार्थना कर रहा था, तभी उसने देखा भगवान् का गरुड की ध्वजा वाला दिव्य रथ, शैव, सुग्रीवादि घोड़ों

के सहित आकाश मे उड़कर अन्ध्य हो गया। उसके साथ ही भगवान् के आयुध अदृष्य हो गये। यह देखकर सारथी परम विस्मित हुआ, वह भौचक्का सा होकर इधर उधर देखने लगा

उसे अत्यन्त आश्चर्यचकित देखकर परम स्नेह के साथ श्याम-सुन्दर उस से बोले—"दारुक! तुम इतने दुखी क्यों होते हो? जो बात अवश्यम्भावी है, उसे कौन टाल सकता है?"

दारुक ने कहा—"प्रभो! सब कुछ करने कराने वाले तो आप ही हैं, आपकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मेरे लिये क्या आज्ञा होती है?"

भगवान् ने कहा—"दारुक! तुम अविलम्ब यहाँ से द्वारका पुरी को जाओ।"

रोते रोते दारुक ने कहा—"कृपासिन्धो! उस उजड़ी हुई द्वारका में जाकर अब मैं करूँगा ही क्या? नाथ! आपसे रहित द्वारका मुझे काटने दौड़ेगी। वहाँ मैं कैसे रह सकता हूँ। वहाँ मेरा अब क्या काम है?"

भगवान् ने कहा—"तुम्हारा न सही, मेरा वहाँ एक काम है, तुम जाकर द्वारका में मेरा सन्देश सुना आओ।"

दारुक ने कहा—"स्वामिन्! वहाँ सन्देश किसे सुनाऊँगा। स्त्रियाँ तो शंखोद्धारक तीर्थ में चली गयीं। कुछ रक्षक सैनिक बूढ़े बड़े होंगे।"

भगवान् ने कहा—"जो भी वहाँ हों, उन्हीं से जाकर कहना, कि अब द्वारका रहने योग्य नहीं रह गयी। मैंने समुद्र से सौ योजन भूमि कुछ ही दिनों के लिये माँगी थी। अब मैंने द्वारका पुरी को छोड़ दिया। समुद्र से यही हमारा प्रण था कि जब तक हम रहेंगे तब तक तुम इस पुरी से दूर रहना जब हम चले जायँ, तब इसे डुबा देना। अब मेरी त्यागी यदुपुरी समुद्र डुबो देगा। केवल मेरा एक भवन गुप्त रूप से सदा रहेगा, जिसमें मैं अप्रकट रूप से नित्य निवास करूँगा। इसलिये अब वहाँ कोई न रहे।"

दारुक ने रोते रोते कहा—"प्रभो! सेवक का धर्म बड़ा ही कठिन है। सेवक प्राण छोड़ने में भी स्वतन्त्र नहीं। अब जब आप की आज्ञा ही है, तब तो मुझे जाना ही होगा। वहाँ जाकर और क्या क्या कहूँ?

भगवान् बोले—"तुम वहाँ जाकर जैसे हमारे बन्धुबान्धव परस्पर लड़ कर मर गये, इन सबका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाना। इनकी पारस्परिक कलह, एक दूसरे से युद्ध करना, सम्पूर्ण यदु-

कुल का नाश हो जाना इन सभी घटनाओं को क्रमशः सुनाना। श्री बलदाऊ जी की परमगति की बात भी बताना। मेरी जो दशा तुम देख रहे हो इसे भी सब से कह देना।"

दारुक ने पूछा—"जो लोग द्वारका में हैं या शंखोद्धार में हे, वे सब रहें कहाँ ?"

भगवान् ने कहा—"जो यादव बचे हैं अब उन्हें इस देश मे रहने की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन को हम अपने साथ नहीं लाये थे जानबूझकर उसे द्वारका में छोड आये थे। अभी हमारे माता पिता भी द्वारका में ही हैं। कुछ स्त्री बच्चे शंखोद्धारक भी पहुँचा दिये थे। तुम सबसे कहना–वे लोग अपने धन कुटुम्ब तथा अन्यान्य वस्तुओं को लेकर अर्जुन के साथ हस्तिनापुर को चले जायँ। मेरे माता पिता को भी समझा बुझाकर हस्तिनापुर ही भेज देना। सभव है वे मेरे वियोग के कारण अब जीवित न रहेंगे, फिर भी तुम मेरी ओर से यही कह देना।"

रोते रोते दारुक ने कहा—"प्रभो सबके लिये तो सन्देश दे दिया, इस सेवक के लिये क्या आज्ञा होती है ? मैं क्या करूँ ? कहाँ रहूँ ?"

भगवान् ने गभीरता के साथ कहा—"दारुक ! भैया, तुम मेरे बताये हुए भागवत धर्मो का आचरण करते हुए ज्ञान निष्ठ होकर स्वच्छन्द विचरण करो। ससार से निरपेक्ष होकर मेरा भजन करो। इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को मेरी माया ही मानकर मुझ मायापति का ध्यान करो। ऐसा करने से तुम मेरी दुस्तर माया को सहज मे ही तर जाओगे। देखो, भैया ! अधीर होने का काम नहीं। धीर लोग ही मेरी माया से पार जा सकते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान् की ऐसी आज्ञा सुनकर दारुक का हृदय फटने लगा। वह बालकों की भाँति ढाह मारकर;

भुक्त कण्ठ से रुदन करने लगा। वह बार बार भगवान् के पैरों में पड़कर प्रणाम करता, प्रदक्षिणा करता फिर अधीर हो कर गिर पड़ता और फिर उठकर प्रणाम प्रदक्षिणा करता। इस प्रकार अनेकों बार प्रणाम और प्रदक्षिणा करके अत्यन्त कष्ट के साथ उदास मन से वह द्वारका की ओर चल दिया।

शौनकजी ने पूछा—"सूत जी! दारुक के चले जाने के अनन्तर भगवान् वासुदेव ने क्या किया ?"

खिन्न मन से सूतजी ने कहा—"अभी, महाराज! अब भी कुछ करने को शेप रह गया क्या? भगवान् तो जो भी कुछ करना चाहते थे, अपनी सब लीला समाप्त करके स्वधाम पधारना चाहते थे। अब वहाँ कोई रहा नहीं। इसलिये भगवान् पधारने को प्रस्तुत हुए। इतने में ही भगवान् की परमधाम यात्रा के दर्शनों को ब्रह्मादि देव आकर उपस्थित हुए उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

रथ आयुध जब गये कहें तब हरि दारुकतें।
सूत! द्वारका जाउ वृत्त यह कहो सबनि तें॥
मेरी त्यागीपुरी डुबावै जल निधि अबई।
इन्द्रप्रस्थ कूँ जाउ संग अरजुनके सबई॥
सदा भागवत परम तुम, करि पालन निरपेक्ष बनि।
जग प्रपञ्च माया रचित, समुझि असत् मानो सबनि॥

श्यामसुन्दर का स्वधाम गमन

(१३३३)

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतम्,
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः,
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३१ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि चल्यो द्वारावति दारुक ।
इत अज, शिव, सुर शक्र श्याम ढिग आये उत्सुक ॥
परमधाम प्रभु गमन निहारन इच्छा मन महँ ।
नयन कमल हरि मूँदि विराजे सुख आसन महँ ॥
अन्तरहित निज तनु कर्यो, गमने श्याम स्वधाम जब ।
धर्म, धैर्य, धी, कीर्ति श्री, सत्य आदि सग गये सब ॥

भगवान् जो भी लीला करते हैं, उसे साङ्गोपाङ्ग करते हैं। यद्यपि उनकी लीला में बहुत से अति मानुष या अमानुषिक कार्य भी हो जाते हैं, उन्हीं कार्यों से सर्व साधारण लोग उन्हें

* श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! जो भगवान् अपने गुरु के पुत्र को यमलोक से इस मर्त्य शरीर के साथ ही ले आये। तुमको भी जो शरणागत रक्षक भगवान् ब्रह्मास्त्र से दग्ध होने पर गर्भ से जीवित निकाल लाये, काल के भी काल शिवजी को जिन्होंने

भगवान् मानते हैं, किन्तु साधारणतया वे सभी लोकवत् लीला करते हैं अज होने पर जन्म लेते हैं, दुःख से रहित होने पर भी दुखियों के सदृश विलाप करते हैं और अजर अमर होने पर भी मर्त्य धर्म का अनुकरण करते हैं। जीवों के कठिन हृदयों में करुणा का स्रोत बहाने के लिये ही भगवान् की ये लीलायें हैं। भक्तगण इन लीलाओं को स्मरण कर करके अपने हृदयस्थ कल्मषों को धोते हैं और कृतकृत्य होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् की आज्ञा से दारुक द्वारका को चला गया, तो भगवान् ने स्वधाम गमन का निश्चय किया। उसी समय देवताओं को उत्सुकता हुई कि भगवान् कैसे स्वधाम पधारते हैं, अतः उनकी महायात्रा के दर्शनों के लिये देवगण अपने अपने विमानों पर चढ़कर वहाँ आय। ब्रह्माजी को आगे करके भवानी शङ्कर, इन्द्रादि देवगण, समस्त प्रजापति, ऋषि मुनि, पितर सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, चारण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, अप्सरा तथा द्विजगण सभी परम उत्सुकता के साथ वहाँ आये। सभी पंक्ति बद्ध खड़े होकर अत्यंत भक्ति भाव से भगवान् के गुणों का गान करने लगे, उनकी अनेक दिव्य स्तोत्रों से स्तुति करने लगे। उस समय आकाश में विमान ही विमान दिखायी देते थे। मधुर मधुर स्वर में देवगण दुन्दुभि बजा रहे थे, अप्सरायें अपने नूपुरों के झनकार से सम्पूर्ण आकाश मंडल को मुखरित करती हुईं नृत्य कर रही थीं। गन्धर्व गण भगवान् के गुणों का गान कर रहे थे। हाथ में पुष्पाञ्जलि लिये

जीत लिया और अपने चरण में बाण मारने वाले व्याध को सदेह स्वर्ग पठा दिया, ऐसे सर्व समर्थ भगवान् क्या अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे?"

हुए मंत्र पढ़ पढ़कर देवगण स्वर्गीय पारिजात के पुष्पों की भगवान् के ऊपर वृष्टि कर रहे थे।

भगवान् ने ब्रह्मा जी को तथा अन्यान्य आगत अमरों को देखा, वे तनिक मुसकराये और फिर उन्होंने अपने विकसित कमल के सदृश युगल नयन बंद कर लिये। अपने आत्मा को स्वरूप में अवस्थित करके स्वधाम गमन का उपक्रम किया। उनका दिव्य तनु धारणा ध्यान के लिये मंगलमय है और लोक में सब

से अधिक सुन्दर है, उसे योग धारणा की अग्नि से अन्तर्हित करके प्रभु स्वधाम में प्रवेश कर गये। स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बज

रही थीं, देवगण निरन्तर पारिजात के पुष्पों की वृष्टि कर रहे थे। जय जय नमो नमः के शब्द सर्वत्र सुनायी देते थे।

भगवान् का दिव्य लीलामय श्री विग्रह अन्तर्हित हो गया, यह श्री सम्पन्न भूमण्डल अभागा बन गया। इसकी श्री नष्ट हो गयी। भगवान के जाते ही कलियुग ने अपने पैर फैलाने आरंभ कर दिये इसलिये सत्य भी अपनी छाया छोड़ कर चल गया। लोगों के बीच में धैर्य ने भी रहना उचित नहीं समझा। अधर्म की प्रबलता और उसका काल समझ कर धर्म भी चल दिये। यह भूमि श्री और लक्ष्मी से हीन हो गयी। भगवान् के अन्तर्हित होते ही उनके साथ ही लोक से सत्य, धर्म, धैर्य कीर्ति तथा लक्ष्मी ये सभी इस लोक का परित्याग कर गये। जैसे देह के सब अंग प्रत्यंग ज्यों के त्यों बने रहते हैं केवल प्राणों के निकलते ही वह श्री हीन तथा जीवन हीन हो जाता है, वैसे ही भगवान् के स्वधाम पधारते ही भूमि के सभी गुण नष्ट हो गये।

जिस समय भगवान् अपने धाम को पधार रहे थे, उस समय ब्रह्मादि देवों ने बहुत चेष्टा की कि हम भगवान् को स्वधाम पधारते हुए देख सकें, किन्तु उनका यह प्रयास असफल रहा, उन अविज्ञात गति भगवान् की गति को कोई भी न पहिचान सके। कोई भी उन्हें स्वधाम में प्रवेश करते हुए न देख सके।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! ब्रह्मा जी तो सर्वज्ञ हैं, वे भगवान् की गति का पार क्यों नहीं पा सके?"

सूतजी बोले—"महाराज! ब्रह्माजी हम सब लोगों की अपेक्षा सर्वज्ञ हैं, अब भगवान् की गति को तो एकमात्र भगवान् ही समझ सकते हैं। देखिये, यह मानी हुई बात है, कि बिजली एक घन से उदय होकर अन्यान्य घनों में प्रवेश करती है, किन्तु कोई जान नहीं सकता कि कब एक घन से दूसरे घन में गयी। इसी प्रकार भगवान् स्वधाम पधारे तो अवश्य, किन्तु उनकी गति को

कोई देख न सका। भगवान् की ऐसी अद्‌भुत आश्चर्यजनक गति को देखकर सभी अति आश्चर्यान्वित हुये तथा सबके सब उनके गुणों का गान करते हुए उनके पुण्य प्रसङ्गों की प्रशंसा करते हुये अपने अपने लोकों को चले गये।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी! भगवान् ने यह लीला तो अत्यंत दुःखद की। हम लोग तो कर्मों के अधीन हैं, अतः शरीर त्यागने के लिये विवश हैं। भगवान् का शरीर तो कर्माधीन है ही नहीं। वह तो अप्राकृत दिव्य चिन्मय है। उनको ऐसे लोकाभिगम शरीर को अन्तर्हित करने की क्या आवश्यकता थी?"

इस पर सूतजी बोले—'महाराज! रंग मंच पर आकर नट युद्ध करता है, क्षत विक्षत होता है अन्त में मर भी जाता है, किन्तु आप भीतर जाकर देखें तो उसके शरीर में न तो कोई घाव ही लगा है न वह मरा ही है। नाटक खेलकर भीतर हँस रहा है। अपने उत्तम अभिनय पर प्रमुदित हो रहा है। इसी प्रकार भगवान् का जन्म लेना अन्तर्हित हो जाना ये सब नाटक के अभिनय के सदृश है। अजन्मा का भला जन्म कैसा अजर अमर का भला मरण कैसा? फिर भी लोक लीला के निमित्त भगवान् ऐसा करते हैं। अनेक प्रकार की सुखान्त दुखान्त लीलायें करते रहते हैं। अपने आप ही अपनी लीला से इस संसार को वे मकडी के जाले के सदृश बनाते हैं, इच्छानुसार कुछ काल तक उसमें क्रीड़ा करते रहते हैं, इच्छा होते ही उस क्रीड़ा को समेट कर क्षीर सागर में जहाँ मक्खी मच्छर डाँस तथा खटमलों का का कुछ भी भय नहीं वहाँ शेष की शैया पर तान दुपट्टा सोते रहते हैं। लक्ष्मी जी चरण के तलुओं को सुहलाती रहती है। ठंडी ठंडी वायु के झोंके आते रहते हैं। भगवान् को कोई भी घटना विचलित नहीं कर सकती। वे इस अपने से उत्पन्न हुए जगत् को अपने में ही लीन करके अपनी महिमा में स्थित हो जाते

हैं। महाराज ! जैसी शंका आप कर रहे हैं, वैसी ही शंका मेरे गुरु देव भगवान् शुक से राजर्षि परीक्षित् ने की थी। राजा ने पूछा—"भगवन् ! श्री हरि ने शरीर को अन्तर्हित क्यों कर दिया ? उन्हें उसका अदर्शन करने को विवश क्यों होना पड़ा ?"

इस पर हँसते हुए भगवान् शुक ने कहा—"राजन् ! भगवान अपने शरीर को अन्तर्हित करने को विवश नहीं हुए। उनके लिये वशता और विवशता भला क्या हो सकती है। देखिए, उनके गुरु सान्दीपिनी का पुत्र न जाने कितने वर्ष पूर्व समुद्र में डूब कर मर गया था, उसे यमलोक जाकर उसी शरीर से ज्यों का त्यों लौटा लाये। आप सोचें ऐसा कोई साधारण व्यक्ति कर सकता है। इतने दिन के मरे बच्चे को फिर उसी शरीर से ले आना असंभव प्रतीत होता है, किन्तु भगवान् तो संभव असंभव दोनों से परे हैं। द्वारका मे ब्राह्मण के मरे हुए दस बालकों को उनकी अवस्था के अनुरूप महाकाल पुर में जाकर भूमा भगवान् के पास से ले आये। औरों की बात छोड़ दीजिये आप ही जब गर्भ मे थे, तो अश्वत्थामा ने कुरु कुल का नाश करने के निमित्त अमोघ ब्रह्मास्त्र बाण छोड़कर आपको एक प्रकार से भस्म ही कर दिया था, किन्तु श्यामसुन्दर ने गर्भ मे प्रवेश करके अपनी कौमोदिकी गदा से तुम्हारी रक्षा की और तुम्हें सकुशल गर्भ से बाहर निकाल लिया। अन्त समय में उनके चरण कमलों में जिस व्याध ने मृग के भ्रम से बाण मार दिया ऐसे क्रूर पापी अपराधी व्याध को भी जिन्होंने सदेह स्वर्ग भेज दिया। उनके लिये अपने शरीर को बनाये रखना क्या कठिन था। वे चाहते तो उसे अन्तर्हित न करते। उनके लिये कर्तव्य अकर्तव्य, संभव असंभव, साध्य असाध्य कुछ भी नहीं है। वे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के एकमात्र अनन्य कारण हैं, सर्वशक्तिमान् हैं सर्व समर्थ हैं। वे चाहते तो शरीर को बनाये रखते किन्तु उन्होंने सोचा,

इसका प्रभाव अच्छा न पडेगा। जब हम अपने शरीर को प्रकट रूप से स्थायी बनाये रखेंगे, तो जो आत्म ज्ञानी सामर्थ्यवान् पुरुष हैं, वे भी इसी प्रकार का प्रयत्न करेंगे। वे भी मर्त्य लोक में मर्त्य धर्मा शरीर को स्थिर रखकर मर्त्य लोक के भोगों को भोगते रहेंगे, वे दिव्य गति की उपेक्षा करेंगे। सोचेंगे इस मर्त्य शरीर में कोई विशेष गुण न होता तो भगवान् इसे स्थिर क्यों रखते। उन लोगों की नाशवान् शरीरों में आसक्ति न हो इसी लिये भगवान् ने अपना भुवन मोहन दिव्य वपुतिरोहित कर लिया। जिससे सभी इस नाशवान् शरीर की ममता को छोड दें।

राजन् ! यह प्रभु के परमपद-प्रयाण की परम पावन कथा है, जो लोग प्रातःकाल उठकर अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के सहित नित्य नियम से इसका पाठ करेंगे अथवा सुनेंगे उन्हें भी अन्त में यही सर्वोत्तम गति प्राप्त होगी, वे प्रभु के परम धाम को जायगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार मेरे गुरुदेव ने महाराज परीक्षित को भगवान् के परम पद प्रयाण की यह कथा सुनायी थी, उसका वर्णन मैंने आप से किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनक जी ने कहा—"सूत जी ! भगवान् तो स्वधाम पधार ही गये, अब द्वारका जाकर दारुक सारथी ने भगवान् के बन्धु बान्धव यादवों से क्या कहा और उन्होंने सबका निधन सुनकर क्या क्या किया। इसे हमारी सुनने की और इच्छा है। कृपा करके इस पुण्य प्रसङ्ग को आप हमें और सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है मुनियो। अब कथा के इस अवशिष्ट अंश को मैं आप सबको और सुनाता हूँ, आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करें।"

छप्पय

अजहू गति नहिँ लखि भये कब हरि अन्तरहित।
ज्यों घनतें घन माहिँ न विद्युत दीखत प्रविशत॥
सब सुर निज निज लोक गये प्रभु के गुन गावत।
यों करि क्रीड़ा कृष्ण करुन अति दृश्य दिखावत॥
द्विज सुत, गुरु सुत, मातु सुत, मृतक जिवाये परीक्षित।
नहीं प्रकट थिर तनु रख्यो, योगिनि के उपदेश हित॥

—:o:—

यदुवंश विनाश का उपसंहार

(१३३४)

इत्थं हरे र्भगवतो रुचिरावतार—
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ३१ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

प्रभु लीला संवरन करी दारुक इत आयो।
पहुँचि द्वारका सकल यथावत वृत्त सुनायो॥
सुनि प्रभास सब लोग विकल ह्वै दौरे आये।
रोहिनि अरु वसुदेव, देवकी प्रान गँवाये॥
हरि, बल अरु वसुदेव सब, यदुवंशिनि की कुलवती।
निज निज पति हियलाइ कें, भईं नारि सबई सती॥

पति प्राणा पत्नियों के लिये अपने प्राणनाथ पति ही सर्वस्व हैं। जैसे शरीर के बिना छाया नहीं रहती वैसे ही पति के बिना पतिव्रता भी अपने शरीर को नहीं रखतीं। पति इसलोक में

---

*श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इस प्रकार श्री हरि भगवान् के परम कल्याणकारी बाल चरित्रों को तथा रुचिर अवतार पराक्रम को जो इस ग्रन्थ में गाये गये हैं अथवा अन्यान्य ग्रन्थों में कहे गये हैं उन्हें जो सुन कर गान करते हैं, उन्हें परम हंसों के एक मात्र गति भगवान् वासुदेव में पराभक्ति हो जाती है।"

रहता है, तो वे इस लोक में उसके सदा साथ रहती
वह परलोक प्रयाण करता है तो उसके साथ स
पकड कर परलोक भी जाती हैं। अपने प्रेष्ठ के लि
काम म कष्ट प्रतात नहीं होता। माता पुत्र के लिये
कष्टों को प्रसन्नता पूर्वक सहती है। अपने कोई अर
जाते हैं, तो उनकी छोटी से छोटी सेवा करने में सुख
है। जो स्त्रियाँ इतनी कामलाङ्गी होती हैं, कि अग्नि
कौन कहे सूय की तीक्ष्ण किरणों को भी क्षण भर
सकतीं वे ही पति के प्रेम मे पगली होकर प्रसन्नता
लित अग्नि मे हँसते हँसते अपने शरीर को भस्म
प्रेम का पथ बडा ही अटपटा है। प्रेमो के लिये जा
जाता है उससे प्रसन्नता ही होती है।

सूत जी कहते हैं—'मुनियो! भगवान् स्वधाम
देवगण जो उनके महायात्रा के दर्शनों को आये थे,
लोकों को चले गये। इधर भगवान् की आज्ञा से
पुरी में आया। वसुदेव जी देवकी जी तथा अन्य
को मातायें अभी द्वारका में ही थीं। महाराज उग्र
द्वारका में ही विराजमान थे। दारुक सुधर्मा सभा
पछाड खाकर गिर पडा और फूट फूट कर रोने ल
कर सभी वृद्ध यादव व्याकुल हो गये। सब ने सम
अशुभ सम्वाद है। सब ने दारुक का उठाया और
हुए बोले—"दारुक! तुम इतने अधीर क्यो हो रहे
तो सही क्या समाचार है? हमारे सब बन्धु बान्धव

रोते रोते दारुक सारथी ने कहा—'क्या कुशल
अब पृथिवी पर रही ही नहीं। यदुवशी सभी पर
मर गये। भगवान् बलदेव जी ने भी परमगति प्राप्त

भगवान् श्याम सुन्दर भी जब मैं आया था स्वधाम पधारने को उद्यत बैठे थे, उन्होंने भी लीला संवरण कर ली होगी।"

इतना कह कर वह पुनः मूर्छित होकर वसुदेव जी के चरणों पर गिर पडा और अपने अश्रुओं से उनके चरणों को भिगोने लगा।

इस समाचार को सुनते ही समस्त यादव हाय हाय करके रुदन करने लगे। सभी का चित्त अत्यन्त ही उद्विग्न हो गया और वे सब के सब शोक से कातर होकर मूर्छित हो गये। सभी अधीर होकर नयनों से नीर बहा रहे थे और दोनों हाथों से अपने सिर को पीटते हुए पछिता रहे थे। उस समय सब उसी प्रकार बिल बिला रहे थे, जिस प्रकार जल से पृथक होने पर मछलियाँ तडपती हैं।

अब किसी को कुछ भी नहीं सूझता था। जो जैसे बैठा था, तैसे ही प्रभास की ओर दौड पडा। जो लोग शंखोद्धारक तीर्थ में पहुँच गये थे, उनको भी सूचना दे दी गयी। कुछ ही देर मे सब रोते चिल्लाते विलाप करते हुए प्रभास क्षेत्र मे पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा करोडों मृतक शरीर पडे हैं। वहाँ का दृश्य अत्यन्त वीभत्स हो रहा है। जिस अश्वत्थ वृक्ष के नीचे श्याम सुन्दर ने अपनी इहलोक लीला संवरण की थी उस वृक्ष के नीचे पहुँचते ही वसुदेव जी तथा देवकी रोहिणी आदि उनकी पत्नियाँ घोर रुदन करने लगीं। अपने पुत्रों को न देख कर उनका हृदय फट गया। वे चेतना शून्य कटे वृक्ष तथा बेल के सदृश भूमि पर गिर पडे और भगवद् विरह से इतने व्याकुल हुए कि फिर उठे नहीं। वहीं उन्होंने अपने अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

अब सभी यदुवंश की स्त्रियाँ अपने अपने पतियों के मृतक देहों को खोजने लगीं। किसी को अपने पति का सिर मिला, किसी को धड़ ही मिला किसी को कोई अङ्ग ही मिला। जिसे जो

मिला उसी को लेकर वे सती हो गयीं। लाखों करोड़ों चितायें वहाँ धू धू करके जल रही थीं। उस समय समुद्र का वह तट प्रभास क्षेत्र महाश्मशान की भाँति जाज्वल्यमान हो रहा था। सभी अपने अपने पतियों के शवों को गोदी में लेकर शृंगार करके प्रसन्न चित्त से चिताओं पर चढ रहीं थीं। बलदेव जी की स्त्रियों ने बलराम जी के शरीर को लेकर एक साथ एक ही चिता में प्रवेश किया। रोहिणी जी तथा देवकी जी तो भगवद् वियोग में अपने पति के साथ ही परमधाम पधार गयीं। वसुदेव जी की शेष ग्यारह पत्नियों ने चिता बना कर उसमें वसुदेव जी तथा देवकी जी के मृतक शरीरों को रखा और अग्नि जला कर स्वय भी सब की सब उस चिता में एक साथ ही जल गयीं।

भगवान् का शरीर तो वहां था नहीं वह तो अन्तर्हित हो गया था। जिस स्थान पर भगवान ने लीला सवरण की थी उसी स्थान पर चिता जलाकर भगवान की आठ पटरानियों ने भी अपने शरीरों को भस्म कर दिया। जो भौमासुर के यहाँ से सोलह सहस्र एक सौ आठ लाई गयीं थीं, उन्होंने अपने शरीर का परित्याग नहीं किया, उन्हें अभी और भी दुर्दिन देखने थे। भगवान् से रहित होकर जो जीना चाहता है उसकी दुर्गति के अतिरिक्त सुगति कैसे हो सकती है। इसी प्रकार भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न जी की पत्नियाँ भी पति के शरीर के संग सती हो गयीं। इसी प्रकार जिसे अपने पति का शरीर मिला वह उसके साथ जिसे न मिला वह उसका स्मरण करके ही सती हो गयी।

इस विनाश लीला के अन्तिम पटाक्षेप को देखने के लिये वसुदेव तथा उग्रसेन के साथ अर्जुन भी वहाँ पहुँच गये थे। अपने सुहृद्, सखा, श्रेष्ठ तथा सर्वस्व श्याम सुन्दर को न देखकर उनका हृदय फटने लगा। उन्हें सम्पूर्ण संसार सूना दिखायी देता था। उनकी बार बार इच्छा होती थी, मैं भी यहीं जल मरूँ।

यहीं अपने शरीर का अन्त कर दूँ।" किन्तु महा प्रयाण के समय श्याम सुन्दर उन्हें एक सेवा सौंप गये थे। कह गये थे। स्त्रियों और बच्चों को लेकर तुम हस्तिनापुर जाना।" इससे वे प्राण भी नहीं छोड सकते थे। स्वामी की आज्ञा तो सब से श्रेष्ठ है। उसका पालन करना सेवक का परम धर्म है। भगवान् के विरह से उन्हें दुःख तो अत्यधिक हुआ, किन्तु उन्हीं के दिये हुए गीतोक्त ज्ञान का बार बार स्मरण करके उन्होंने धैर्य धारण किया। स्वयं ही धैर्य धारण नहीं किया, किन्तु जो बचे हुए बालक तथा स्त्रियाँ थीं उन सब को भी धैर्य बँधाया। फिर शास्त्रोय विधि से जिसका जो भी सम्बन्धी बच गया था, उसी से उसका और्ध्व दैहिक कृत्य कराया। जिनका कोई नहीं था उन सब का स्वयं उन्होंने कृत्य किया।

इधर भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर ही समुद्र में एक बाढ आई उसने सम्पूर्ण द्वारकापुरी को अपने पेट में रख लिया। सौ योजन की द्वारका को उसने क्षण भर में डुबो दिया। सब घर नष्ट भ्रष्ट हो गये। केवल एक भगवान् का मन्दिर ही अवशेष रह गया, जो समुद्र के गर्भ में भी ज्यों का त्यों अवस्थित है। किसी भाग्यशाली को उसके दर्शन भी होते हैं और उस मन्दिर में भगवान् वासुदेव नित्य निवास करते हैं। उस मन्दिर के स्मरण मात्र से मनुष्यों के समस्त अशुभों का नाश हो जाता है, क्यों कि यह परम मङ्गलमय स्थान है। इस प्रकार यह यदुवंश विनाश के नाटक का अन्तिम पटाक्षेप है।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी! फिर क्या हुआ। अर्जुन ने फिर क्या किया?"

उदास मन से सूत जी बोले 'अजी, महाराज! अब भी कोई प्रश्न करने को स्थान शेष रह गया क्या? अर्जुन ने अपने इष्ट भगवान् वासुदेव की आज्ञा का पालन किया। वे संहार से

बचे हुए बालकों तथा स्त्रियों लेकर इन्द्रप्रस्थ के लिये चल दिये। मार्ग में जिस प्रकार दस्युओं ने उन्हें लूट लिया और स्त्रियों को लेकर भाग गये यह सब कथा मैं पीछे कह ही चुका हूँ। इन्द्रप्रस्थ मे आकर उन्होंने रोते रोते यह सम्वाद धर्मराज युधिष्ठिर से कहा। कुन्ती जी ने तो सुनते ही प्राणत्याग दिये। पांडवों ने अपने पौत्र महाराज परीक्षित् को तो हस्तिनापुर की गद्दी पर बिठा दिया और अनिरुद्ध के पुत्र वज्र का राज्याभिषेक व्रजमंडल के सिंहासन पर करके स्वयं हिमालय में गलने चले गये। जो यदुवंश के छोटे छोटे बालक बच रहे थे उन्हीं से आगे यदुवंश चला।

मुनियो! यह मैंने अत्यन्त ही संक्षेप मे हृदय को वज्र वा बना कर वज्र के राज्यसिंहासन तक का वर्णन किया। जो नर नारी भगवान् के इन परम मंगलमय परम आनन्द दायक नित्य चरित्रों का श्रद्धा भक्ति और अनुराग के साथ वर्णन करेंगे वे निश्चय ही सभी पापों से छूट जायँगे। संसारी लोग नित्य नाना प्रकार की सांसारिक बातें करते रहते हैं। बिना बातें किये किसी पर रहा ही नहीं जाता। उन बातों में किसी की निंदा होती है किसी की स्तुति। निन्दा करने वाले के पापों के संस्कार अपने हृदय पर छा जाते हैं और स्तुति करने वाले के पुण्य। पाप से नरक की प्राप्ति होती है और पुण्य से स्वर्ग की। इस प्रकार जो संसारी बातें करते हैं उन्हें पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है पुनः पुन मरना पडता है। कभी स्वर्ग जाते हैं तो कभी नरक जाकर वहाँ की यन्त्रणायें सहते रहत हैं। उनका संसार चक्र कभी छूटता नहीं। जो संसारी कथाओं को न कह सुनकर इन भागवती कथाओं को ही सुनते या कहते हैं, वे पुण्य पाप से विमुक्त बन कर भगवान् के नित्य शाश्वत परम धाम में जाते हैं, फिर उन्हें कर्म बन्धनों में बँधकर संसार में लौटना नहीं पड़ता।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी आपने जो भागवती कथायें

सुनाया है उन्हें ही सुनता रहे या अन्य ग्रन्थों की कथाओं को भी सुने।"

इस पर सूत जी बोले—"महाराज! मैंने कितनी कथायें सुनायी हैं, इनी गिनी कुछ कथाओं का मैंने दिग्दर्शन मात्र किया है। उन अनादि अनन्त भगवान् के चरित्रों की कोई सीमा नहीं परिधि नहीं इयत्ता नहीं। वे तो अनन्त तथा अपार हैं। यह तो क्षुद्र सीमित साम्प्रदायिक भावना है, कि इतनी ही सुने इसके अतिरिक्त कुछ न सुने। ऐसे विचार के लोग तो उन भूमा अनादि अनन्त प्रभु को सीमित कर देते हैं। उन्हें संकीर्णता की परिधि में बाँध देते हैं। वे हठ धर्मी पुरुष कूप मंडूक बन जाते हैं। जहाँ भी जिस ग्रन्थ में भी कथा मिले उसे ही श्रद्धा सहित सुने, किन्तु सुने भगवान् के ही सम्बन्ध की कथा। जो भगवत् कथा न सुन कर लौकिक वैषयिक ग्राम्य कथाओं को सुनते हैं उनका संसार बन्धन और दृढ़तम होता है। जो किसी भी ग्रन्थ में वर्णित भगवान् के बाल पौगण्ड तथा किशोरावस्था के कल्याण कारक चरित्रों को सुनते सुनाते हैं पढ़ते पढ़ाते हैं तथा गाते गवाते हैं, उन पुरुषों क प्रभु के पाद पद्मों में परा भक्ति प्राप्त होती है, इसमें किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं। यह मैंने भगवान् के स्वधाम पधारने तक की कथा कही, अब आप और क्या सुननाचाहते हैं ?"

उदास मन से शौनक जी ने कहा—"सूत जी! अब सुनने को शेष रहा ही क्या? आपने तो श्री कृष्ण चरित्र की वारि समाप्त ही कर दी। हमें तो आशा थी, आप इसी प्रकार जीवन पर्यन्त भागवती कथाओं को सुनाते रहेंगे। अच्छा, अब आप इस कथा का परिशिष्ट भाग तो सुनाइये। भगवान् के प्रपौत्र वज्र ने व्रज में बस कर कैसे राज्य किया। यदुवंश विभूषण भगवान् वासुदेव के स्वधाम पधारने पर इस पृथिवी पर कौन कौन भक्त

शाली राजा हुए। आगे किस वंश वालों के हाथ में वसुधा का शासन रहा।

सूत जी ने कहा—"महाराज! भगवान् के स्वधाम पधारने पर पृथिवी पर कलियुग का साम्राज्य हो गया। भगवद् भक्ति के प्रभाव से महाराज परीक्षित् ने कलियुग का दमन किया तो अवश्य किन्तु भावी को कौन रोक सकता है। काल का प्रभाव तो अमिट है। यह संसार तो परिवर्तन शील है। द्वन्द्व ही इसकी स्थिति में मूल कारण हैं। न कभी धर्म ही एक सी स्थिति में रह सकता है न अधर्म ही। सत्य युग मे धर्म ही धर्म रहता है, उस समय धर्म का ही प्रावल्य होता है, कलियुग में अधर्म ही अधम सर्वत्र छा जाता है। धर्म रूप तो भगवान् ही हैं इसीलिये भगवान् को त्रियुग कहा है। सत्य, त्रेता, द्वापर इन तीनों ही युग में वे प्रकट रूप से रहते हैं। कलियुग में अवतार होता नहीं जो होते भी हैं, उनसे किसी न किसी प्रकार अधर्म का ही प्रसार होता है। असुरों को मोहने के लिये भगवान् भी विचित्र विचित्र उपदेश देते हैं। सभी शास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि कलियुग में योग, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य तथा यज्ञ यागादि सभी साधन पंगु हो जाते हैं, इस युग मे एक मात्र भगवन्नाम संकीर्तन ही कल्याण का श्रेयस्कर मार्ग है। जो लोग भगवान् के नामों का निरन्तर उच्चारण करते रहते हैं, भगवान् के नामों का ही गायन करते हैं, भगवान् की ही कथाओं को सुनते हैं और भगवान् के ही आश्रय से रहते हैं, उन्हें तो कलियुग बाधा देता नहीं। इनके अतिरिक्त जितने भी लोग हैं, वे विषय सुखों को ही सर्व श्रेष्ठ समझने लगते हैं, सब की स्वाभाविकी प्रीति इन संसारी विषयों में ही हो जाती है। विषयों का धर्म पूर्वक सेवन करें तो उचित भी है, किन्तु कलियुगी पुरुष तो विषयों का सेवन अधर्म पूर्वक करते हैं।

छल, बल से, झूठ से, कपट से तथा मिथ्याडम्बर से कैसे भी पैसा मिल जाय यही कलियुग के सभी वर्ण सभी आश्रमों की प्रवृत्ति हो जाती है। भागवती कथा में धार्मिक राजाओं का ही वर्णन होता है, या उनके सम्बन्ध से अधार्मिक राजाओं का भी वर्णन हो जाता है। कलियुग में तो सभी वर्ण संकर हो जायगे। उनमें तो धर्म रह नहीं जायगा। इसलिये कलियुगी राजाओं का वर्णन करना भागवती कथाओं के उद्देश्य के विरुद्ध है। फिर भी भगवान् के सम्बन्ध से अत्यन्त ही संक्षेप में मैं आपसे भगवान् के तिरोभाव से लेकर अब तक के राजाओं का नाम निर्देश मात्र कर दूँगा। महाराज ! भगवान् के चरित्र तो कभी समाप्त होते ही नहीं। वे तो असमाप्त हैं। भगवन् ! इस जनलोक मे रहते रहते मुझे बहुत दिन हो गये हैं। आप तो महात्मा हो, कलियुगी जीवों को देखना नहीं चाहते, इसीलिये नैमिषारण्य की पुण्य भूमि को त्याग कर यहाँ जन लोक में आकर बस गये हो। यहाँ भी आपकी कथा सुनने की लालसा सदा बनी रहती है, किन्तु सुनियो ! मेरे तो अभी कुछ संस्कार शेष हैं। मैं तनिक घूम फिर कर मर्त्यलोक का चक्कर लगा आऊँ। वहाँ के बदरी, रामेश्वर तथा अन्यान्य पुण्य क्षेत्रों के दर्शन कर आऊँ, आपकी दया हुई और आपने बुलाया तो फिर आकर कथा सुनाऊँगा। भगवान् के चरित्रों का कभी अन्त थोड़ा ही होता है। अच्छी बात है, तो अब मैं आपको कलियुगी राजाओं का नाम निर्देश मात्र तथा किसी किसी का चरित्र भी सुनाता हूँ आप भगवान् के सम्बन्ध से ही इन्हें सुनें।

छप्पय

सती भईं सब नारि निरखि अरजुन अति रोये ।
सम्बन्धी प्रिय सुहृद, सखा सरबसु हरि खोये ॥
करि कें सब के श्राद्ध नारि बालक सग लीये ।
इन्द्रप्रस्थ मग चले पराजित चोरनि कीये ॥
धरमराज प्रभु गमन सुनि, नृपति वज्र मजूज में करे ।
हथिनापुर नृप परीक्षित्, करे हिमालय में गरे ।

—:o:—

कलियुग के राजाओं का वर्णन

(१३३५)

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप ।
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम् ॥
प्रद्योतसञ्ज्ञं राजानं कर्ता यत्पालकः सुतः ।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० २,३ श्लो०)

छप्पय

शौनक पूछें-'सूत ! भये को कलि में भूपति ।
सूत कहें-'मुनिराज ! न कलि में कोई नरपति ॥
सहस पाँच या सात और राजा कछु क्रमते ।
फिरि कुलीन नहिँ भूप रहें सब आवृत तमते ॥
जरासन्ध के वंश में, शत्रुञ्जय राजा भयो ।
जाहि पुरञ्जय हू कहें, शुनक सचिव ताको कह्यो ॥

प्रायः धर्म परम्परागत ही आता है। क्षत्रियों में जो सर्वश्रेष्ठ है, वह राजा कहलाता है, ब्राह्मणों में जो सर्वश्रेष्ठ होता है ऋषि कहलाता है। ऋषित्व और नृपत्व यह वंश परम्परा से आता है।

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! बृहद्रथ के अन्तिम राजा होगा पुरञ्जय उसका मन्त्री शुनक अपने स्वामी को मारकर अपने पुत्र प्रद्योत को मगध देश का राजा बना देगा। उसका पुत्र पालक होगा, पालक का पुत्र विशाखयूप और उसका पुत्र राजक होगा।"

अन्य वर्ण का कोई वीर पराक्रमी शूर तेजस्वी पुरुष हो राजा के सदृश हो सकता है। कर्मणा वह राजा है। वंश-परम्परा से जन्मना वह राजा नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार किसी अन्य वर्ण का कितना भी ज्ञानी हो, वह ऋषिवत्-ऋषिकल्प हो सकता है। उसे जन्मजात ऋषित्व प्राप्त नहीं हो सकता। हमने ऐसा सुना है कि सिंह सिंहनी से जीवन में एक बार समागम करता है इसीलिये उससे सर्व प्रथम सिंह ही पुत्र होता है, दूसरी बार समागम करे, तो चीता होता है और तीसरी बार करे तो वृक होता है। अर्थात् सिंह सिंहनी के समागम से जो प्रथम पुत्र होगा वही सिंह कहलावेगा। शेष सब पराक्रमी होंगे सिंह के समान उनका रूप रंग होगा, किन्तु वे सिंह नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार राजा का प्रथम पुत्र राजा होगा; शेष सब क्षत्रिय राजकुँवर या भूमिपति होंगे। राजा भगवान् का अंशावतार होता है, आठों लोकपालों का उसमें अंश रहता है। राजा को साधारण क्षत्रिय नहीं मानना चाहिये। यद्यपि उसका वर्ण क्षत्रिय होता है, किन्तु वह सब साधारण क्षत्रियों से भिन्न होता है। इसी प्रकार ऋषियों के प्रथम पुत्र को ऋषित्व प्राप्त होता है शेष सब ब्राह्मण होते हैं। ऋषिगण सर्व साधारण ब्राह्मणों से भिन्न होते हैं। वे गोत्र प्रवर्तक या प्रवर प्रवर्तक होते हैं। जो ऋषि प्रजापति होते हैं, वे सृष्टि की वृद्धि करते हैं उन्हीं के नाम से गोत्र चलते हैं। वे सभी वर्णों के यहाँ तक कि पशु, पक्षी और वृक्षों तक के जनक हो जाते हैं। ऋषि और प्रजापतियों का वीर्य अमोघ होता है। वह कभी व्यर्थ हो ही नहीं सकता। जहाँ भी प्रयुक्त होगा वहीं सृष्टि करेगा। उसमें क्षेत्र का प्रभाव नहीं पड़ता संकल्प का प्रभाव पड़ता है। ऋषि का वीर्य पशु पक्षी चांडालिनी शूद्री या घड़ा में भी पड़ जाय तो संकल्पानुसार उससे ऋषि ही उत्पन्न होगा। सब साधारण पुरुषों का

वीर्य क्षेत्र से प्रभावित होता है। स्वजाति में प्रयुक्त होगा तभी स्व-जातीय सन्तान उत्पन्न कर सकेगा। विजाति में प्रयुक्त होने से एक संकर जाति बन जायगा। जैसे गाडा से घोडी में जो सन्तान होगी उन्हीं की अश्व संज्ञा होगी। घोडा से गदभी में भी सन्तान हो सकती है, किन्तु वह अश्व न होकर अश्वतरी (खच्चर) जाति होगी। खच्चरी फिर किसी जाति की उत्पत्ति न कर सकेगी क्य कि वह तो स्वय संकर है। अश्वतरी या तो कभी गर्भ धारण करेगी ही नहीं यदि करेगी तो अपनी मृत्यु के ही लिये करेगी। अर्थात् उसका उदर विदीर्ण करके ही बच्चा निकाला जायगा।

ब्रह्मर्षि और राजर्षि ही धम के रक्षक होते हैं। इनमें ब्रह्मर्षिगण तप स्वध्याय ब्रह्मचर्य तथा यम नियमादि के पालन करने से परम पवित्र होते हैं। उनकी अनुभूति लोक कल्याणमयी होती है। उन पवित्र अनुभवों का प्रयोग राजर्षि करते हैं, अर्थात् उनके बताये हुए सत्य नियमों को कार्य रूप में परिणत राजर्षि-गण करते हैं। इसीलिये राजा को धर्म का कारण बताया है। जैसे क मन्त्र है। उसकी अनुभूति एक ऋषि को हुई। उन्होंने उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति के एक सहस्र लोगों को प्रदान किया। तो मन्त्र का प्रभाव तो सब पर ही पड़ेगा, किन्तु सब में यह सामर्थ्य न होगी, कि वह उस मन्त्र को चैतन्य करके औरों को भी उस मत्र से मन्त्रित कर सके। उनमें से सब प्रथम जिसे मन्त्र दिया है ऐसे एक या दो ब्राह्मण शिष्य को ही यह शक्ति प्राप्त हो सकेगी कि वह मन्त्र देकर लोगों को समाश्रित कर सके। इस प्रकार जहाँ तक उस मन्त्र की परम्परा शुद्ध बनी रहेगी तहाँ तक तो वह प्रभावशाली रहेगा। जहाँ उसकी पर-म्परा या सम्प्रदाय छिन्न भिन्न हुई वहाँ फिर वह मन्त्र न रहकर साधारण अक्षर रह जायँगे। उनसे स्वार्थी लोग अज्ञजनों को

ठगकर अपनी आजीविका भले ही चला सकते हैं। किन्तु उन निर्जीव मन्त्रों से कल्याण नहीं हो सकता। जो दशा मन्त्र की है वही दशा विशुद्ध वीर्य की है।

सन्तानें दो प्रकार की होती हैं, एक नाद के द्वारा दूसरा विन्दु के द्वारा। जो मन्त्र देकर शिष्य बनाये जाते हैं वे नाद सन्तान। जो वीर्यदान देकर स्वपत्नी में उत्पन्न होते हैं वे विन्दु सन्तान हैं। ये दोनों सन्तानें तभी तक शुद्ध रहती हैं जब तक इनकी परम्परा शुद्ध बनी रहे। जहाँ इनकी परम्परा में विकृति आई तहाँ ये अशुद्ध हो जाती हैं। धर्म उत्पन्न करने की अपेक्षा अधर्म की सृष्टि करने लगती हैं।

प्राचीन काल में राजवश की परम्परा को विशुद्ध बनाये रखने पर कितना ध्यान दिया जाता था, इसके लिये वेन की कथा को पुनः स्मरण करना चाहिये। महाराज अङ्ग को किसी विशुद्ध क्षत्रिय कन्या से विवाह करना चाहिये था, किन्तु उन्होंने काम के वशीभूत होकर मृत्यु की कन्या सुनीथा से विवाह किया। ऋषियों को अधिकार था, वे उस विवाह को अनियमित घोषित कर देते, किन्तु उससे एक कठिनाई थी। ऋषि और देवता मनुष्यों के लिये आलोच्य नहीं हो सकते। इनके बुरे कामों की आलोचना अपने समाज में हो सकती है। मनुष्यों को अधिकार नहीं है, कि वह देवता और ऋषियों के चरित्रों की निंदा कर सके। चन्द्रमा ने बहुत अधर्म का काम किया, अपने समाज में उनकी बडी निंदा हुई उन्होंने गुरु पत्नी का अपहरण किया, किन्तु फिर भी देवता देवता ही है। उनके पुत्र बुध के द्वारा प्रवर्तित वश क्षत्रियों मे परम श्रेष्ठ माना जाता है। इसीलिये महाराज अङ्ग के विवाह का ऋषियों ने विरोध नहीं किया, क्योंकि मृत्यु तो देवता हैं।

उच्चवर्ण की कन्या का विवाह नीच वर्ण के व्यक्ति के साथ

अत्यंत विवशता वश ही होता है शुक्राचार्य की कन्या देवयानी का विवाह क्षत्रिय राजा ययाति के साथ अत्यंत विवशता में—"कचके शापवश—ही हुआ था उसका परिणाम भी अच्छा नहीं हुआ देवयानी से उत्पन्न सन्तानें क्षत्रियाधम या म्लेच्छ ही हुईं। इसी प्रकार मृत्यु की कन्या सुनीथा का विवाह विवशता वश मर्त्यलोक के राजा अङ्ग के साथ हुआ। सुनीथा दुष्ट स्वभाव की लड़की थी। एक तपस्वी को वह वन में जाकर अकारण पीटा करती थी। इसीलिये उसने शाप दे दिया तेरे गर्भ से जो पुत्र होगा, वह अत्यंत दुष्ट होगा। मनुष्यों की बात होती तो छिप जाती। देवताओं की बात थी। इसीलिये उससे विवाह करने को न कोई देवता सहमत हुआ न उपदेव। विवश होकर मृत्युदेव को एक मर्त्यधर्मा राजा के के साथ उसका विवाह करना पड़ा राजा भी उसे देखकर काम के वशीभूत हो गये थे। भवितव्यता ऐसी थी विवाह हो गया। तपस्वी का अमोघ शाप तो व्यर्थ जाता नहीं। सुनीथा से गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह परम दुष्ट हुआ वेन उसका नाम दुष्टता के ही कारण पड गया। उसमें पिता के वीर्य का प्रभाव न पडकर माता के रजका प्रभाव अधिक पडा। उसे अपने नाना मृत्यु का स्वभाव प्राप्त हुआ। प्रजा उसकी दुष्टता से ऊब गयी। पिता तो उसके कारण घर छोडकर ही भाग गये। मंत्रीगण कोई नहीं चाहते थे, कि वेन को उसके पिता की गद्दी दी जाय। किन्तु राजा के बिना तो धर्म का पालन हो नहीं सकता। राजा चुना नहीं जाता, राजा मिट्टी का बनाया नहीं जाता, वह तो वंश परम्परा से आया है। ऋषिगण जानते थे। चाहे इसमें माता के रजका ही विशेष प्रभाव क्यों न हो, किन्तु यह तो राजर्षि अङ्ग के ही वीर्य से हुआ है। मनुवंश के वीर्य की परम्परा तो विच्छिन्न नहीं हुई है। राजत्व गुण तो परम्परा से प्राप्त होते हैं। मंत्रीगण तथा प्रजाजन तो बाहरी बातों को 'देखते हैं। हमें तो'

मनुवंश की वीर्य धारा को अविकल बनाये रखना चाहिये। सब के विरोध करने पर भी मुनियों ने वेन को ही राजा बना दिया। बेन तो दुष्ट था ही। ऋषियों ने उसे बनाया धर्मरक्षक बन गया वह धर्म भक्षक। जब उसके अत्याचार असह्य हो गये तो ऋषियों ने हुङ्कार से उसे मार डाला। मार डालना तो सहज था, किन्तु अब राजा कौन बने। अङ्ग की गद्दी पर मनुवंश का ही कोई राजा बैठ सकता है। यदि दूसरा कोई राजा बना दिया गया तो परम्परा ही छिन्न भिन्न हो जायगी। वंश ही नाश हो जायगा। पापियों के ही वंश का नाश होता है। महाराज अङ्ग तो पापी नहीं थे। इनकी वंश परम्परा का तो नाश न होना चाहिये। इनके वंश मे तो अब तक सब राजा अमोघवीर्य और केशवाश्रय रहे हैं।* तब ऋषियों ने उस अंग के शरीर को मथा। मथने का कारण यह था कि जैसे मक्खन को दही में मिलाकर फेंट दो तो उसमें घृत और मैल दोनों मिल जायँगे। उसे फिर मथकर अग्नि पर तपा लो। घृत अलग हो जायगा मल अलग हो जायगा। दुष्टा के रज के साथ महाराज का विशुद्ध वीर्य मिल गया था। अब ऋषियों ने पाप पुण्य को मथकर पृथक पृथक् कर दिया। जो पाप अंश था उससे काननचारी निषाद जाति का पुरुष हुआ। जो विशुद्ध था उससे पृथिवी पति पृथु। वैसे तो सभी राजा भगवान की विभूति होते हैं। मनुष्यों से विशिष्ट होते हैं। पृथु परम शुद्ध थे, अयोनिज थे मंत्रों से उत्पन्न थे अतः वे भगवान् के अंशावतार भी हुए।

* नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन्केशवाश्रयाः॥*
(श्री भा० ४ स्क० १४ अ० ४२ श्लो०)

इस कथा से ही अनुमान लगाया जा सकता है, कि पूर्व काल में वंश परम्परा का कितना अधिक ध्यान रखा जाता था।

राजा बनाया नहीं जाता था बना बनाया परम्परागत आता था।

अनार्य परम्परा के मानने वाले भौतिक वादियों ने समाज में एक भ्रमपूर्ण अशुद्ध घातक धारणा उत्पन्न कर दी है, कि समाज अधिकाधिक उन्नति कर रहा है। उनकी धारणा है कि मनुष्य प्राणी पहिले बंदर था। उसकी पूँछ घिसते घिसते यह इस रूप में आ गया है। पहिले वह सर्वथा अज्ञानी था। जैसे बन्दर पेट भरने को फल फूल खाता है वैसे ही पूँछ घिसा यह आदि मनुष्य फल पर निर्वाह करता था। फिर उसने पशुओं को रख लिया उनका दूध पीने लगा। उसने देखा फल की गुठली डाल देने से यह उग आती है, तो बोने लगा। घोर जंगल को काटकर खेत बनाने लगा। बैल आदि से हल जोतने लगा। घर बनाने लगा, उसका ज्ञान बढने लगा। जंगली जीवों को भगाने को पत्थर के शस्त्र बनाने लगा। फिर हड्डियों के तब लोहे आदि के। ज्यों ज्यों उन्नत होता गया त्यों त्यों आविष्कार करता गया। अब वह सब से अधिक ज्ञानी हो गया है उसने भाँति भाँति के उपयोगी यन्त्रों का आविष्कार कर लिया है। प्रकृति को अपने वशमें कर लिया है। पहिले अज्ञानवश मनुष्य अग्नि को ही देवता मानते थे। सर्प से डरकर उन्हें पूजते थे। कुछ पुरोहित लोग गीत बनाकर अग्नि की पूजा करते थे उन्हीं गीतों को पीछे से संग्रह कर दिया गया वे वेद बन गये। वेद बहुत पुराने हैं। सबसे पहिले पुस्तक है। अर्थात् जब मनुष्य प्राणी अत्यत अवनत था। अब उन्नत हो गया है। अर्थात् जैसे उसने उन्नत होकर पत्थर और हड्डियों के अस्त्र शस्त्रों को छोड दिया है उसी प्रकार अब उसे अवनति अवस्था के गीतों को भी छोड देना चाहिये।" यह भ्रामक धारणा उन्हीं भौतिकवादी अनार्य दस्युओं की है, जो इस शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, जिनकी दृष्टि में इस लोक को छोडकर कोई परलोक है ही नहीं। वे वेद पुराणों में वर्जित देवासुर संग्राम को

आर्य अनार्यों का सघर्षमात्र ही मानते हैं। यह विपरीत विचार तमोगुणी लोगों के है। बाहर से देखने पर घोर तमोगुणी और शुद्ध सतोगुणी दोनों ही एक सी दशा में दिखायी देगे। तमोगुण के आधिक्य के कारण भींत से पीठ सटाकर कोई गाढ निद्रा में सो जाय। और दूसरा शुद्ध सत्वगुण की वृद्धि के कारण समाधिस्थ हो जाय, तो दोनों ही दूर से देखने में निश्चेष्ट बैठे दिखायी देंगे, किन्तु उन दोनों की दशा मे आकाश और पाताल का अतर है। एक घोर अज्ञान में निश्चेष्ट बैठा है दूसरा विशुद्ध विज्ञान मे। इसी प्रकार विचार भौतिकवादी भी करते हैं और आध्यात्मिक वादी भी। भौतिक वादियों का विचार अज्ञान मूलक होता है और आध्यात्मिक वादियों का विचार ज्ञान मूलक। जो तम से आवृत प्राणी हैं वे अवनति को ही उन्नति कहते हैं अधम को ही धर्म मानते हैं। जिसे वे क्रम से विकाश कहते हैं, वास्तव मे में वह है क्रम से ह्रास। प्रकृति पतन शील है, क्रम से विकाश नहीं होता ह्रास ही होता है, क्रम से उन्नति नहीं होती अवनति ही हाती है। बढना वृद्धि के लिये नहीं ह्रास के लिये है। बिगडना नवीनता के लिये है। यही भौतिकवाद और आध्यात्मिक वाद में अन्तर है। भौतिक वादी मानता है हम अवनति से उन्नति की ओर बढ रहे हैं। आध्यात्मिक वादी कहता है प्रकृति पतनशील है। प्राकृतिक उन्नति उन्नति नहीं अवनति है। प्राणी उन्नति से अवनति की ओर जा रहा है वह उत्थान से पतन की बढ रहा है। यथार्थ उन्नत तो वह है जो प्रकृति से सम्बन्ध तोड़कर परमेश्वर से सम्बन्ध जोड लेता है। प्रकृति मे विकाश जैसे भौतिकवादी मानते हैं वैसे ही आध्यात्मिक वादी भी मानते हैं। किन्तु उनके विकाशवाद में और इनके विकाशवाद में अतर है। भौतिकवादी कहता है समाज के लोग शनैः शनै उन्नत हो रहे हैं उनमें ज्ञानकी वृद्धि हो रही है।

आध्यात्मिक वादी कहता है आरम्भ में प्राणी उन्नत था ज्यों ज्यों यह प्रकृति से अधिकाधिक सम्बन्ध जोड़ता जाता है उसके अधीन हो जाता है त्यों ही त्यों अधिक अवनति की ओर बढ़ रहा है। उसमें अज्ञान की वृद्धि होती जाती है धर्म से मुख मोड़कर अधर्म को अपनाता जाता है। शनैः शनैः जो बढ़ रहा है वह अवनति के लिये बढ़ रहा है। इसके कुछ दृष्टान्त लीजिये।

एक बच्चा है, वह बढ़ने लगा। भौतिकवादी कहता है वह वृद्धि की ओर जा रहा है उसकी आयु बढ़ रही है। आध्यात्मिकवादी कहता है यह तुम्हारा भ्रम है वह बढ़ नहीं रहा है प्रतिक्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। वह घटता जाता है। घटते घटते उसका अंत हो जायगा। अब वह फिर नया होगा, तो एक साथ बालक हो जायगा।

सूर्यनारायण पूर्व दिशा से उदित हुए अब वे ऊपर को चढ़ते हैं क्रमशः उन्नत होते हैं उन्नति की वह उन्नति नहीं क्रमशः वे अस्ताचल में जाकर अस्त हो जाते हैं। फिर दूसरे दिन वे पूर्व मे आकर उदित हो जाते हैं इसे कोई नहीं देखता। इसी प्रकार कल्प के आदि सत्ययुग में धर्मपूर्ण रूप से रहता है, पुनः वह क्रमशः क्षय होते होते कलियुग में क्षय हो जाता है। कलियुग के अन्त में पुन. सत्ययुग हो जाता है उसकी अवनति तो क्रमशः हुई किन्तु उन्नति सहसा हो गयी। जैसे गंगाजी। हिमालय से निकलकर शनैः शनैः क्रमशः जाकर समुद्र में गिरी। किन्तु समुद्र से वाष्प बनकर वह पुनः अपने स्थान मे क्रमश न आकर सहसा आ गयी। एक बडी भारी नली से पानी नीचे तो क्रमशः आया, किन्तु नीचे के पानी को ऊपर सहसा किसी प्रबल शक्ति ने तुरन्त पहुँचा दिया। अतः भारतीय विकाश वाद में मनुष्य उन्नत न होकर अवनत हो रहा है। धर्म का नित्य क्षय हो रहा है। मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता जाता है, उतना ही वह मनु-

ण्यता से—पूर्णता से-गिरता जाता है। यह सत्य है, कि आदि सत्ययुग मे वे लोग वस्त्र नहा पहिनते थे, घर नहीं बनाते थे, खेती नहीं करते थे, उन्हें परस्पर में सेवा नहीं करनी पड़ती थी। विवाह की प्रथा नहीं थी, लोग स्वच्छन्द होकर वनों मे रहते। उनमे न कोई राजा था न प्रजा सब एक से थे। प्रकृति उनके अधीन थी सभी संकल्प सिद्ध थे। जो संकल्प उठता तत् क्षण पूरा हो जाता। यह उनकी अवनति की दशा नहीं थी सर्वोत्कृष्ट उन्नति की अवस्था थी। उन्नति की पराकाष्ठा थी। शनैः शनैः उनकी संकल्प शक्ति क्षीण होने लगी। पहिले वे जब चाहते इसी शरीर से स्वग चले जाते, जब चाहते मत्यलोक मे लौट आते। अधर्म की वृद्धि से उनकी गति रुक गयी। पहिले उन्हें शीत बाधा नहीं देता था, उनकी सहनशक्ति बढ़ी हुई थी। ज्यों ज्यों धर्म भावना न्यून होती गयी त्यों त्यों सहन शक्ति भी घटती गयी अब उन्हें शीत निवारण के लिये वस्त्रों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः वे वल्कल धारण करने लगे। वल्कल धारण करना उनकी निर्बलता थी वह उनकी अवनति थी। ज्यों ज्यो सहन शीलता घटती गयी त्यो त्यों वस्त्रो का चलन भी अधिकाधिक होने लगा। लोगों का अन्त में इतना पतन हुआ, कि वे गरमी के दिनों में भी नख से शिख तक जब तक कपड़ों से लद न जायें तब तक बाहर नहीं निकलते। पहिले १०। १०। १२। १२ वर्ष के बच्चे नंगे घूमते थे अब मनुष्यो का इतना पतन हो गया कि छै महीने के बच्चे को भी नंगा नहीं रखते कभी ऐसा समय आवेगा, कि लोग अपनी चौकी और खटिया को भी बिना वस्त्र से ढके देखने में लज्जा का अनुभव करने लगेंगे।

पहिले केवल क्षुधा निवृत्ति के लिये कद मूल, फल खाते थे, सो भी जहाँ रहते वहीं प्रकृति स्वयं उत्पन्न करके दे देती। अब लोगों की तृष्णा बढ़ी इधर उधर दौड़ धूप करके फल संग्रह करने

लगे। फलों से निर्वाह न हुआ तो बीजो को खाने लगे। बीजों में भी जब लोभ बढ़ा तो उन बीजों का संग्रह करने लगे। खेत बनाकर बोने लगे। रात्रि दिन खेती में ही समय बिताने लगे। अन्त में इस मनुष्य प्राणी का इतना पतन हुआ कि भगवान् को भूलकर इसे एक ही चिन्ता में रहने लगी। 'अधिक अन्न उपजाओ' थोड़ा खाओ, अधिक बचाओ। यह इसके अविश्वास की अधर्म की, पतन की पराकाष्ठा है।

पहिले आदमी बहुत कम बोलते थे। शनैः शनैः अधिक बोलने की वासना उत्पन्न होने लगी। जो अधिक बोलेगा, वह व्यर्थ की बातें भी बकेगा। इसलिये लोग व्यर्थ की बातें बकने और सुनने लगे। उनमे कुछ बाव दूक हुए। वे लोगों को हँसाने के लिये या मनोरंजन करने के लिये इधर उधर की बातें सुनाने लगे। जब बोलने का व्यसन बढ़ा तो भाँति भाँति के बोलने के यन्त्रों का आविष्कार हुआ। यहाँ तक कि आप समुद्र पार बोलें और बैठे बैठे यन्त्र के सहारे उनकी बातों को सुने। अधिक बोलने अधिक सुनने की प्रवृत्ति उन्नति नहीं अवनति है।

पहिले लोग केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये कर्तव्य बुद्धि से सहवास करते थे। पीछे उनकी क्रमशः वासना बढ़ने लगी। उस वासना की बाढ को रोकने के लिये धर्म का प्रतिबन्ध लगाया गया विवाहों का चलन चला। मनुष्यों की विषयासक्ति बढ़ने लगी। वे अनेकों स्त्रियों को रखने लगे। स्त्रियों की वासना भी बढ़ने लगी वे स्वैरिणी होने लगीं तब समाज ने उनके दो विभाग कर दिये। एक सर्वभोग्या कामिनी। दूसरी धर्म पत्नी। धर्मपत्नियों की भी जब वासना बढ़ने लगी तो धर्म बन्धन शिथिल होने लगे। पुरुष पर स्त्री गामी, तथा स्त्रियाँ पर पुरुष गामिनी होने लगीं। ज्यों ज्यों वासना बढ़ने लगी अधर्म की वृद्धि होने लगी त्यों त्यों धर्म बन्धन शिथिल होने लगे। अब स्त्री पुरुषों की ओर से माँग

होने लगी। धर्म का बन्धन हटा दिया जाय। स्त्री पुरुष सब स्वतन्त्र कर दिये जाय। जिसकी जहाँ इच्छा हो अपनी वासना की पूर्ति की जाय। तम प्रधान पुरुष इसे उन्नति कहते हैं, स्वतन्त्रता कहते हैं, किन्तु यह है वास्तव में वासनाओं की दासता। घार अवनति और अधर्म की वृद्धि।

पहिले लोग अपने आप में ही सन्तुष्ट रहते थे, वे मिलने किससे जायँ आत्मा तो एक है। शनैः शनैः वृत्ति आत्मा से हटकर शरीर की ओर लगी। शरीर को सजाने बजाने की इच्छा हुई जब अपना शरीर सजाया बजाया जाने लगा, तो उसे दिखाने का दूसरे के समीप गये। दूसरा भी शरीर को सजाने लगा। वह उसके पास मिलने आया। पहिले सब लोग पैदल आते जाते थे। फिर उनका बल क्षीण होने लगा, वे कुछ श्रम का अनुभव करने लगे तो बैल और घोड़ों पर चढ़कर चलने लगे। उनके चलने से भी श्रम प्रतीत होने लगा तो उन्होंने गाडी रथ बनाये। उन जीवों को जोतने लगे। जब वासना और बढ़ी तो शीघ्र पहुँचने की इच्छा हुई। जीवधारी प्राणी तो एक परिमित सीमा से ही चल सकता है। अतः निर्जीव वाहन अग्नि वाष्प की सहायता से निर्माण हुए। उन्हें बुद्धि द्वारा भूमि पर दौड़ाया जाने लगा। इससे भी वासना शान्त नहीं हुई तो वायुयान बनाये। वायुयानों में उड़ना यात्रा करना मनुष्य की उन्नति का चिन्ह नहीं है यह उसकी वासना की प्रबलता का द्योतक है।

पहिले सब एक से भी रहते थे, कोई संग्रह नहीं करता था, संग्रह करे भी तो क्यों करे। जब हमें समय पर यथेष्ट गंगा जल मिलता है तो संग्रह क्यों करें। वासना वृद्धि होने से वस्तु न्यून होने लगी लोग संग्रह करने लगे। संग्रह होने से आलस्य बढ़ने लगा। लोग अधिक से अधिक संग्रह करने में व्यस्त हो गये।

अधिक वस्तुओं का संग्रह करना उन्नति का चिह्न नहीं दरिद्रता का अविश्वास का चिह्न है।

पहिले बड़े छोटे का भेदभाव नहीं था। जब कुछ लोग चोरी करने लगे अपराध करने लगे। तो सबने मिलकर किसी वर्ग में राजत्व स्थापित किया। परम्परा से उसमें राजत्व के गुण आने लगे। वह न्याय करने लगा। जब लोग उसकी बात मानने में आना कानी करने लगे, तो वह सेना रखने लगा, मंत्री आदि बनाने लगा। अब कुछ लोग राजा पर अविश्वास करने लगे। इसलिये परामर्शदातृ समिति का निर्माण हुआ मन्त्रिमंडल बना इस पर भी असन्तोष रहा तो कुछ वर्ग के लोग राजनीति में भाग लेने लगे। राजसत्ता को बटाने लगे। जब और असन्तोष अविश्वास बढ़ा तो वयस्क मताधिकार का प्रचार होने लगा। जन्मना राजा को हटा दिया! सत्ता लोलुप और अविश्वासी लोग सत्ता के लिये परस्पर में लड़ने लगे। प्रत्येक व्यक्ति का राजनैतिक संघर्ष मे कूदना यह उन्नति नहीं सबसे अधिक अवनति है। अविश्वास और अधर्म का यह नग्न नृत्य है। यही भारतीय विकासवाद है। इसे सब मानते हैं, कि यह संसार परिवर्तनशील है, जो इस समय है वह अगले क्षण नहीं है। अन्तर इतना ही है भौतिकवादी कहते हैं हम उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं। अध्यात्मवादी कहते हैं हम प्रकृति के जितने अधीन होते जा रहे हैं उतने ही अवनत हो रहे हैं।

आप कहेंगे, कि यदि नंगा रहना, घर न बनाना, विवाह बन्धन न मानना यदि यही उन्नति का चरम लक्ष्य है तो ये कोल भील जो जंगलों मे बिना घर बार नंगे रहते हैं ये सबसे अधिक उन्नत हैं। इसका उत्तर तो हम पहिले ही दे चुके हैं यह उनकी दशा है जो तम के प्रभाव से गाढ़ निद्रा वाले की और समाधि वाले की। संसार का भान दोनों को ही नहीं है किन्तु

एक परम उन्नत है एक परम अवनत ये जो नंगे रहते हैं साधनों के न रहने के कारण। इनको इच्छा तो सुन्दर वस्त्र पहिनने की महलों में रहने की होती है, किन्तु ये विवश हैं। साधनों के अभाव में ऐसा कर नहीं सकते। वे जो कल्प के आदि वाले सत्ययुगी लोग नगे तथा बिना घर द्वार और बिना नियम उप-नियमों के रहते थे, उनको इच्छा ही नहीं होती थी। उनमें इन्द्रिय निरोध की सहज शक्ति थी वे सत्व प्रधान थे।

पहिले स्वर्ग जाने की सबमें वैसे ही स्वाभाविक शक्ति थी जैसी पक्षियों में उडने की तथा मछलियों की जल में रहने और सोने की सिद्धि है जब मनुष्यों में वासना बढ गयी, तो स्वर्ग जाने की शक्ति नष्ट हो गयी। अब कृत्रिम शक्ति पैदा करने लगे। योगाभ्यास से शरीर की स्थूलता को नष्ट करके सूक्ष्म शरीर से जाने लगे। जो योगाभ्यास करने में भी असमर्थ थे कर्मासक्त थे, उनके लिये यज्ञ यागादि कर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। तीन प्रकार की अग्नियों के उत्पन्न होने की कथा भी इसी प्रकार की है। प्रतिष्ठानपुर (भूसी) के राजा पुरूरवा का सम्बन्ध स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी से हो गया। उर्वशी गन्धर्व लोक में रहती थी। अब राजा की इच्छा गन्धर्व लोक जाने की हुई। पहिले राजा बिना रोकटोक स्वर्ग चले जाते थे। जब से उनका सम्बन्ध उर्वशी से हो गया और वे उसके विरह में पागल होकर सीडी प्रमत्तों की भाँति इधर उधर घूमने लगे तो उस उन्मत्तावस्था में वे अपनी स्वग जाने की सिद्धि को खो बैठे। तब गन्धर्वों ने उन्हें अग्निस्थाली दी। उर्वशी की कामना से उन्होंने यज्ञ किया। तब से काम्य यज्ञ भागों का प्रचलन चल पडा।

पहले लोग आपस में लडते भिडते नहीं थे। जब लोगों का नैतिक आचरण गिरने लगा तो आपस में लडने लगे पहिले पत्थरों से लडे, फिर दूरसे मारने को धनुष बाणों को बनाया। कुछ ने

मंत्र सिद्धि करके मंत्रों के द्वारा अस्त्रों का प्रयोग किया। जो अस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकते थे उन्होंने शस्त्रों का आविष्कार किया। पहिले शस्त्र लोह के बने फिर गोले बने अब पतन होते होते वे शस्त्र अणुबम तक पहुँच गये। ऐसे शस्त्रों का प्रचलन मनुष्य का सब से बड़ा पतन है। उसके सद्गुणों का स्पष्ट दिवालियापन है। पहिले अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा के लिये करते थे। महाभारत के पहिले इतना पतन हो गया कि यश ऐश्वर्य के साथ धन के लिये भी इनका इनका प्रयोग होने लगा। जहाँ तक स्मरण होता है। द्रोणाचार्य पहिले ब्राह्मण थे जिन्होंने लोभ वश राजाओं की शरण ली परन्तु तब भी शुद्ध लोभ नहीं था उसमें भी लोभ प्रतिष्ठा दोनों मिली थी। आज वैज्ञानिकों का इतना पतन हो गया है कि वे धन के लिये चाहे जैसे घातक से घातक शस्त्र का प्रयोग कर सकते हैं। धन के पीछे देशद्रोह कर सकते हैं अपने करोड़ों भाइयों का वध करा सकते हैं उत्तम पुरुष मान चाहते हैं। मध्यम मान और धन दोनों, किन्तु अधमपुरुष धन को ही सर्वस्व समझते हैं। पैसों के लिये घातक अस्त्र बनाना, तथा और भी लोक विध्वंसक कार्य करना यह पुरुषों का सबसे अधिक पतन है।

भारतीय संस्कृति की ऐसी मान्यता है, कि यह जो संसार कार्य चल रहा है, एक व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। जैसे कोई संस्था या किसी नगर का निर्माण कराते हैं तो उन घरों या अन्य सेतु आदि की आयु उस पर लिख देते हैं, कि इतने दिनों में इनका जीर्णोद्धार किया जाय और इतने दिनों पश्चात् इसे नष्ट कर दिया जाय। इस प्रकार यह जगत् अपने आप सहसा उत्पन्न नहीं हो गया। भगवान् ने इसका निर्माण किया। भगवान् के नाभि-कमल से ब्रह्मा जी निकले ब्रह्माण्ड बना उसमें चौदह भुवन बने देवगण बने। ब्रह्मा जी की सौ वर्ष की आयु

निश्चित हुई। किन्तु काल तो असीम है अपनी अपनी सामर्थ्य-शक्ति और बुद्धि के अनुसार लोगों ने सुविधानुसार उसे विभक्त कर लिया। जितने दिन में हमारा वर्ष होता है उतने का कहीं पर एक दिनरात होती है। हम लोगों की आयु सौ वर्ष की मानी गयी है। कोई पचास वर्ष में मर जाता है, तो उसकी मृत्यु को अकाल मृत्यु कहते हैं। बहुत से कीडे मकोडे ऐसे होते हैं, कि उनके हमारे दिन में कई बार जन्म हो जाते हैं। उनके लिये हमारा एक दिन कल्प के समान है। हमारा एक वर्ष ३६० दिन का होता है, किन्तु देवताओं का वह एक दिन ही होता है। देवताओं के ऐसे ही ३६० दिनों का एक वर्ष होता है। जिसे दिव्यवर्ष कहते हैं। अर्थात् हमारे ३६० वर्ष और उनका एक वर्ष बराबर है दिव्यवर्षों से ४८०० वर्ष का सत्ययुग ३६०० वर्ष त्रेता २४०० वर्ष का द्वापर युग और १२०० वर्ष का कलियुग होता है। इनमें ३६० वर्ष का गुणा कर देने से मनुष्यों के वर्ष हो जाते हैं। चारों युग एक बार बीत जाते हैं तो उसे एक चौकडी कहते हैं। ऐसी ऐसी सहस्र चौकडियाँ जब बीत जाती हैं, तो ब्रह्मा जी का एक दिन उतनी ही उनकी रात्रि। सोकर ब्रह्माजी उठते हैं और पुनः सृष्टि पसारा फैलाते हैं, तो जब उस दुकान को फिर जमाते हैं उस काल को कल्प के आदि का सत्ययुग कहते हैं। सभी सत्व गुण प्रधान, दिव्यगुणों से संयुक्त पूर्णता को प्राप्त पुरुष होते हैं। धर्म अधर्म तो साथ ही रहते हैं। दोनों भगवान् के पुत्र हैं। सत्ययुग में अधर्म अव्यक्त रूप से छिपा रहता है। शनैः शनैः वह पैर फैलाने लगता है, ज्यों ज्यों वह अपना प्रभाव बढाता है त्यों त्यों धर्म की रक्षा के लिये नियम, उपनियम धारा अनुधारायें बनायी जाती हैं, लोगों को धर्म के नियमों से जकडा जाता है। फिर वर्णाश्रम धर्म बनाये जाते हैं। बनाये क्या जाते हैं स्मरण किये जाते हैं वैसे तो वे नित्य हैं ही।

जब लोग गडबड करने लगे, तो सब लोग मनुजी के पास गये उन्हें राजा बनाया। शतरूपा उनकी रानी हुई। उनसे सूर्यवंश और चन्द्रवंश दो शाखायें चलीं। इन वंशों को आरंभ हुए पौराणिक गणना से अट्ठाईस चौकड़ियाँ बीत गयीं। यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है कलियुग यह नया ही नहीं आया है इस कल्प मे २७ बार बीत चुका है अब अट्ठाईसवीं बार फिर आया है। हाँ इतना अवश्य है कि जैसे पहिले सत्ययुग में जितना धर्म था उतना दूसरे सत्ययुग मे नहीं कुछ सत्यता न्यून हो गयी। इसी लिये प्रथम को छोड़कर सभी सत्ययुगों में वर्णाश्रम धर्म रहता है। इसी प्रकार जितने कलियुग बीतते जाते हैं उतना अधर्म अधिक होता जाता है। प्रत्येक कलियुग के पश्चात् जब सत्य युग आता है तब प्रलय नहीं होती। प्रलय तो तभी होती है जब ब्रह्माजी का एक दिन हो जाता है। अर्थात् चारों युग सहस्र बार बीत जाते हैं। जब ब्रह्माजी की आयु पूरी हो जाती है तब महाप्रलय होती है। फिर दूसरे ब्रह्मा आते हैं। ऐसा प्रवाह अनादि काल से चल रहा है। अनन्तकाल तक चलता रहेगा। कलियुग आने पर देवता पृथिवी पर सशरीर सबके सम्मुख नहीं आते। मनु. मनुपुत्र प्रजापति और सप्तर्षि भूमि छोड़कर महर्लोक में चले जाते हैं। शौनकादि ऊर्ध्वरेता मुनिगण जनलोक में चले जाते हैं। जैसे बड़े आदमी गरमियों में शीतल स्थान पहाड़ आदि चले जाते हैं। गरमी समाप्त होने पर फिर लौट आते हैं।

एक मन्वन्तर तक एक मनु के वंश का ही राज्य रहता है। द्वापर के अन्त मे कुल की बीज रक्षा के लिये सूर्य और चन्द्रवंश का एक एक राजा तब रह जाता है, जब उस वंश की शुद्धता में संदेह होने लगता है जो वंश का पुरुष शेष रह जाता है, वहीं तक उनमें ईश्वरांश रहता है, उसके पीछे के राजा अल्पवीर्य होते हैं। जैसे मनुवंश के राजा लाखों वर्ष राज्य करते थे। कई कई

युगों तक उनका राज्य चलता था। पीछे यह स्थिति नहीं रहती। राजा साधारण पुरुषों की भाँति हो जाते हैं और उनकी परमायु नहीं रहती। यह उस समय होता है जब द्वापर और कलि की सन्धि होती है। द्वापर का सन्ध्यांश हो और कलियुग की सन्धि हो उस बीच में ऐसा होता है। ऐसा होने पर भी कुछ काल तक वंश चलता ही रहता है।

जैसे भगवान् रामचन्द्रजी का अवतार त्रेता और द्वापर की सन्धि में हुआ। त्रेता समाप्त होकर अपने सन्ध्यांश में पदार्पण करने वाला था और यह सन्ध्यांश द्वापर की सन्धिकाल में मिलने को उत्सुक था। सन्धि और सन्ध्यांश को समझ लेना चाहिये। जैसे सत्ययुग देवताओं के वर्ष से चार सहस्र वर्ष का होता है। उसके आदि में चार सौ वर्ष और अन्त में चार सौ वर्ष सन्धि सन्ध्यांश के होते हैं। आदि को कहते हैं सन्धि अन्त को कहते हैं सन्ध्यांश जैसे सत्युग लगने से पहिले चार सौ वर्ष तो सत्ययुग की सन्धि के हैं। और अंतिम चार सौ वर्ष सन्ध्यांश के हैं। फिर तीन सौ वर्ष त्रेता की सन्धि में आ गये तब त्रेता लगा। इस प्रकार सत्ययुग और त्रेता दोनों युगों के बीच में सात सौ वर्ष सन्धि सन्ध्यांश के हुए। इस समय में त्रेता और द्वापर दोनों के मिलेजुले धर्म रहते हैं। जैसे आषाढ़, श्रावण भादों और चार महीना वर्षा के कातिक, अगहन, पौष और माघ चार महीने जाड़े के फागुन, चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ ये चार महीना गरमी के होते हैं। यद्यपि इन चार महीनों की गणना वर्षा, जाड़ा और गरमी इन ऋतुओं में होती है, किन्तु जाड़ा और गरमी की तथा गरमी और जाड़े की जब सन्धि होती है तब उनमें मिली जुली ऋतु रहती है। जैसे श्रावण भादों दो महीने तो वर्षा होती है। यद्यपि क्वार की गणना वर्षा में है और कातिक की गणना जाड़ों में है, किन्तु क्वार और कातिक इनमें मिली जुली ऋतु रहती है,

कभी तनिक मनिर वर्षा भी हो जाती है क्षुद्र क्षुद्र गुलाबी सा जाड़ा भी आरम्भ हो जाता है। अगहन और पौष दो महीने जाड़ा पड़ता है। फिर यद्यपि माघ की गणना जाड़ों में है और फाल्गुन की गरमी में, किन्तु इन दोनों में दोनों ऋतु मिली जुली रहती हैं। जाड़ा कम होने लगता है गरमी कुछ कुछ आरम्भ होती है। इसी प्रकार गरमी समाप्त होने और वर्षा आरम्भ होने के बीच में जो ज्येष्ठ आषाढ महीने हैं, उनमें कभी कभी वर्षा हो जाती है गरमी तो रहती है। इसी प्रकार दो युगों के बीच बीच में सन्धि और सन्ध्यांश काल में ही होते हैं।

जब द्वापर समाप्त होने को होता है और कलियुग की सन्धि का समय होता है तभी अधर्म अपने पैर फैलाने लगता है। यद्यपि धर्म रहता है फिर भी कलियुग के प्रभाव से रजवीर्य में दोष आने लगता है तब शुद्ध कुल का एक पुरुष योग समाधि लगाकर गुप्तरूप से पृथिवी पर ही किसी गिरि कन्दरा में बैठ जाता है। उसे साधारण लोग देख नहीं सकते। वह तब तक बैठा रहता है जब तक कलियुग समाप्त नहीं हो जाता। कलियुग समाप्त हो जाने पर जब तक कलियुग का सन्ध्यांश बीतकर सत्युग की सधि का समय आता है, तब वह पुरुष जाकर शुद्ध वंश में अपना विवाह करके फिर अपने वंश की परम्परा को चालू करता है। जैसे त्रेता के अंत में भगवान् रामचंद्र जी का अवतार हुआ। उनके स्वधाम गमन के अनंतर उनके पुत्र लवकुश का वंश चला। कुश से लेकर शाम्र तक बास राजा सूर्यवंशी हुए। मरुका पुत्र हुआ प्रश्रुत। मरु के राज्य से ही अधर्म पैर फैलाने लगा। महाराज मरु कलि और द्वापर की सधि में हुए। उन्होंने जब देखा अब हमारी आगे की सन्तानें अल्पायु होंगी और उनमें हमारे वे गुण न रह जायँगे, तो वे योग समाधि में चले गये और पौराणिकों का ऐसा विश्वास है, कि वे बद्रीनाथसे

ऊपर किसी गुप्त गुफा में अलक्षित भाव से समाधिस्थ हैं, जब कलियुग समाप्त हो जायगा, तो वे फिर सूर्यवंश की स्थापना करेंगे। उनके पुत्रों के जो अब तक के वंशज हैं उनकी गणना फिर न होगी उस सत्ययुग में परम्परा मरु से ही चलेगी। मरु के पश्चात महाराज बृहद्‌बल महाभारत के युद्ध में थे उनका वध अभिमन्यु ने किया। उनके मरने के पश्चात् उनका पुत्र बृहद् रण सूर्यवंश के सिंहासन पर बैठा महाभारत के पश्चात् इस वंश के तीस राजा और हुए। इस वंश में सुरथ अन्तिम राजा हुआ सुरथ पर जाकर सूर्यवंश की अविच्छिन्न धारा समाप्त हो जायगी। फिर उस सिंहासन पर सूर्य वंशी राजा न बैठकर कोई अन्यवंश क्षत्रिय राजा हो जायगा। वह कहेगा तो अपने को क्षत्रिय ही किंतु वह क्षात्रबंधु होगा नाम मात्र का क्षत्रिय हो जायगा। क्षत्रियों में सांकर्य दोष आ जायगा। परम्परागत विशुद्धि नष्ट हो जायगी। सूर्यवंशी क्षत्रिय तो नाम मात्र को रहेंगे ही किन्तु उनकी विशुद्ध परम्परा छिन्न भिन्न हो जायगी। सूर्यवंश के क्षत्रिय तो बहुत हैं। जैसे भगवान् के दो पुत्र थे कुश और लव। सुरथ तक कुश की ही परम्परा का वर्णन किया। लव को राजर्षि पद नहीं प्राप्त हुआ। वे केवल क्षत्रिय राजा ही हुए उनके वंशज सब सूर्य-वंशी क्षत्रिय ही हुए। इसलिये सूर्यवंश की शुद्ध परम्परा सुरथ तक ही मानी जाती है।

इसी प्रकार चन्द्रवंश में महाराज ययाति ने नियम विरुद्ध कार्य किया। उन्होंने क्षत्रिय होकर ब्राह्मण कन्या से विवाह किया। वृष पर्वा क्षत्रिय असुर था। उसकी पुत्री शर्मिष्ठा के छोटे पुत्र पुरु को पिता का राज्य मिला। शेष तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनु ये म्लेच्छ देशों के राजा हुए क्षत्रियों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा यदु रहे तो भारतवर्ष में ही किन्तु इनकी गणना शुद्ध क्षत्रियों में नहीं थी। महाराज पुरु की परम्परा में द्वापर और

कलि की सन्धि मे महाराज प्रतीप हुए। प्रतीप के तीन पुत्र हुए देवापि, शन्तनु और वाह्लीक। नियमानुसार देवापि को राजर्षि पद प्राप्त होना चाहिये था, किन्तु अधर्म का प्रसार हो चुका था। देवपि तपस्या करने चले गये। शन्तनु नियम विरुद्ध राजा हो गये। फिर उन्होंने ब्राह्मणों से मिलकर छलबल से अपने को राज्याधिकारी सिद्ध कर दिया, किन्तु यह सब हुआ छल से ही। इसलिये चन्द्रवंश मे विशुद्ध वंश देवापि तक ही सुनते हैं देवापि अब तक तपस्या कर रहे हैं, वे सत्ययुग के आरम्भ में फिर चन्द्रवंश की परम्परा को चलावेंगे। महाराज शन्तनु ने नियम विरुद्ध धीवर की कन्या से विवाह किया। उसे उपपत्नी मान लेते तो कोई दोष भी नहीं था। राजा की ब्राह्मण को छोड़कर सभी जातियों की उपपत्नियाँ हो सकती हैं, किन्तु पत्नीत्व क्षत्रियवंश की नियमानुसार विवाहिता पत्नी को ही प्राप्त होगा। यदि क्षत्रिय कन्या से बिना विवाह किये किसी दूसरे जाति की स्त्री से राजा विवाह कर लेता है, तो वह पतित हो जाता है। उनकी प्रथम पत्नी गङ्गा जी के गर्भ से उनके देवव्रत (भीष्म) पुत्र थे, तो सत्यवती को पत्नीत्व प्राप्त नहीं होना चाहिये था। उसे उपपत्नी ही रहना चाहिये था, किन्तु मल्लाह की हठ से राजा की कामुकता से तथा कुमार देवव्रत की उदारता से सत्यवती को पत्नीत्व प्राप्त हुआ। उसके गर्भ से जो पुत्र हुए वे वीरता से हीन रोगी और अल्पवीर्य हुए। राजयक्ष्मारोग पाप से ही होता है, सत्यवती का पुत्र विचित्रवीर्य राजयक्ष्मा से ही मर गया। अब पुरुवंश के नष्ट होने का समय आ गया। भीष्म विवाह न करने के लिये वचन बद्ध थे, उन्होंने किसी भी दशा अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग न की। तब नियोग का आश्रय लिया गया। भगवान व्यास ने उन विधवा क्षत्राणियों मे सन्तति उत्पन्न की। भगवान् वेदव्यास ऋषि थे। ऋषि संकल्प सिद्ध होते हैं। अतः उन्होंने शन्तनु वंश की रक्षा के

संकल्प से पुत्र उत्पन्न किये अतः वे उसी कुल के कहाये। पीछे महाराज पांडु की पत्नी कुन्तीजी का सम्बन्ध देवताओं से हो गया। देवता और ऋषि ये मनुष्यों के लिये आलोच्य होते ही नहीं अतः पांडु के पुत्र पाँचो पांडव विशुद्ध क्षत्रिय माने गये और धर्मराज उस परम्परा मे परम विशुद्ध समझे गये महाभारत के पश्चात् महाराज परीक्षित् चन्द्रवंश के सिंहासन पर बैठे। इनके अनन्तर छटे राजा नेमिचक्र हुए। इनके समय में गङ्गा में बाढ आई। हस्तिनापुर डूब गया। उसे छोड़कर ये प्रयाग के पास यमुना जी के किनारे अपनी नई राजधानी कौशाम्बी बनाकर रहने लगे। इनके अनंतर इक्कीसवें राजा क्षेमक हुए। इनका वंश नहीं चला। चन्द्रवंश की परम्परा लुप्त हो गयी। अब इधर उधर देशों मे जाकर अन्य चन्द्रवंशी राजाओं ने अपने राज्य बनाये किन्तु परम्परा लुप्त हो गयी। हाँ मगध मे क्षत्रिय राजाओं की परम्परा बहुत दिन तक चलती रही। बौद्ध काल तक वे ही मगध के राजा विशुद्ध क्षत्रियवंश वाले माने जाते थे। बौद्धकाल में नन्दिवर्धन तक इनकी परम्परा शुद्ध रही फिर इस सिंहासन पर निकृतवंश वालों का अधिकार हो गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अयोध्या मे सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी थी और प्रतिष्ठानपुर (झूसी) फिर हस्तिनापुर तदनंतर कौशाम्बी चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी थी। अयोध्या में सुरथ अन्तिम सूर्यवंशी राजा होकर वह परम्परा समाप्त हो गयी और कौशाम्बी मे क्षेमक के अनन्तर चन्द्रवंश की परम्परा

समाप्त हो गयी। पीछे सब क्षत्रियों ने मिलकर एक यज्ञ किया जिसमें एक राजपूत क्षत्रिय जाति हुई। उसमें परम्परा के अतिरिक्त चन्द्रवंशी सूर्यवंशी क्षत्रिय तो थे ही एक अग्निवंशी क्षत्रिय भी सम्मिलित हो गये। इनमें देशी विदेशी सभी प्रकार के क्षत्रिय थे। कलियुग में कुछ काल तक शुद्ध क्षत्रियों की परम्परा मगध में रही। कहना चाहिये मगध ही कुछ काल तक केन्द्र माना जाने लगा। जरासन्ध का पुत्र सहदेव मगध का राजा हुआ। इस वंश में पुरञ्जय (शत्रुञ्जय) अन्तिम राजा हुआ। इस पुरञ्जय का एक मन्त्री शुनक था। यह शुनक शुद्ध क्षत्रिय नहीं था। प्रायः मन्त्री वे ही लोग होते हैं जो क्षत्रियों की हीनवर्ण की रानियों से उत्पन्न होते हैं। यह शुनक भी किसी हीनवर्ण की क्षत्रिय उपपत्नी का पुत्र था। यह बड़ा कूटनीतिज्ञ था। पुरञ्जय अल्प वीर्य था, उसे उसके मन्त्री शुनक ने छल से मार डाला और अपने पुत्र प्रद्योत को मगधके सिंहासन पर बिठा दिया। महाराज बृहद्रथ का प्राचीन राज्यवंश नष्ट हो गया। अब इसके पश्चात् इस क्षत्रबन्धु शुनक का ही वंश चला।

प्रद्योत नियमानुसार राजा बन गया। अब उसका पुत्र पालक मगधेश्वर हुआ। पालक का पुत्र विशाखयूप हुआ और उसका पुत्र राजक हुआ। राजा का पुत्र नन्दिवर्धन हुआ। यह प्रतापी राजा था, किन्तु इस वंश का यह अन्तिम राजा था। शुनक के पुत्र प्रद्योत के वंश में पाँच हो हुए। ये सब अल्पवीर्य अल्पायु हुए। १३८ वर्ष में ही ये ५ राजा हो गये। अर्थात् एक राजा २५,

३० वर्ष से अधिक राज्य न कर सका। प्रद्योत के वंश के राज्यच्युत होने के अनन्तर शिशुनाग वंशीय राजाओं का राज्य चला।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यद्यपि ये लोग विशुद्ध वंश के नहीं थे, फिर भी इनका व्यवहार रीति नीति सब क्षत्रियों की ही थी। अब आगे शिशुनागवंशी राजाओं का मैं वर्णन करूँगा।

छप्पय

शुनक स्वामि निज मारि कर्यो प्रद्योत पुत्र नृप।
ताको पालक पुत्र भयो पुनि सो मगधाधिप॥
तासु विशाखायूप पुत्र राजक पुनि नरपति॥
राजक के विख्यात नन्दिवर्धन सुत भूपति॥
पाँच भये प्रद्योत के, वंशज नृप अवनीश।
भये नृपति ये सब बरप, एक शतक अडतीस॥

शिशुनाग आदि राजागण

(१३३६)

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः ।
क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥
विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति ।
दर्भकस्तस्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० ५, ६ श्लो०)।

छप्पय

तदनन्तर शिशुनाग भये नृप काक वर्ण सुत ।
क्षेम धर्म सुत तासु तासु क्षत्रज्ञ प्रभा युत ॥
ताके सुत विधि सार बिम्बसारहु कहलावें ।
ताके पुत्र अजात शत्रु जासु पितु तक भय खावें ॥
जिनने कौशल नृपति तें, समर राज हित अति करयो ।
भयो ब्याह कौशल सुता, तें तातैं दर्भक भयो ॥

ज्यों ज्यों अधर्म बढता जाता है, त्यों त्यों लोगों की धर्म से आस्था हटकर सासारिक सुख भोगों की ओर इच्छा बढ़ती जाती है। सासारिक सुख और ऐश्वर्य कामिनी और कांचन ये माया

श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! फिर शिशुनाग राजा होगा। उसका पुत्र काकवर्ण, काकवर्ण का क्षेमधर्मा तथा क्षेमधर्मा का पुत्र क्षेत्रज्ञ होगा। क्षेत्रज्ञ के विधिसार (बिम्बसार) उसका पुत्र अजातशत्रु और अजातशत्रु का पुत्र दर्भक राजा होगा।

के दो प्रतीक हैं। कामोपभोग के ये दो प्रधान साधन हैं। संसार इन्हीं के सहारे चल रहा है। विशुद्ध धर्म में इनके प्रति लोगों की आसक्ति होती नहीं। ज्यों ज्यों लोग इन्हें अपनाते जाते हैं। अपनी बनाते जाते हैं त्यों ही त्यों आसक्ति बढ़ती जाती है। ईश्वर कृत सृष्टि बन्धन कारक नहीं होती। प्रत्युत उसके द्वारा तो भगवान् का स्मरण होता है। जीव कृत सृष्टि से बन्धन होता है। उसमें अपनापन हो जाता है। जहाँ एक में अपनापन होता है तो दूसरे में परायापन होना स्वाभाविक ही है। शुद्धता में सृष्टि नहीं। माया के लेश से सृष्टि का आरंभ होता है। ज्यों ज्यों माया में छल कपट का प्राबल्य होता जाता है त्यों त्यों विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है और राग, द्वेष, हिंसा, क्रूरता, दम्भ तथा प्रपञ्च की वृद्धि होती जाती है।

सृष्टि के आदि में ब्रह्मपुत्र सनकादि उत्पन्न हुए। ब्रह्मा जी ने उन से सृष्टि बढ़ाने को कहा। उन्हें ऐसा लगा मानों कोई हमारे हृदय में बाण चुभो रहा है। किसी भी प्रकार वे सृष्टि के पचड़े में पड़ने को सहमत नहीं हुये। तब ब्रह्माजी ने पंच पर्वा अविद्या को उत्पन्न करके अपने देह के दो भाग किये एक से स्त्री हुई दूसरे से पुरुष। अर्थात् मिथुन हो गये। तब सृष्टि करने की इच्छा हुई। मनु और शतरूपा उत्पन्न हो गये। सृष्टि हुई। उनके ऊपर बल पूर्वक राज्य भार लादा गया। उनको राज्य की इच्छा नहीं थी। कर्तव्य समझ कर उन्होंने राज्य भार सम्हाला। उनके पुत्र उत्तान पाद हुए सुरुचि और सुनीति में मनोमालिन्य हुआ वह ऐश्वर्य जनित ईर्ष्या थी। लोभ नहीं था। सतयुग त्रेता में कर्तव्य भार की अपेक्षा ऐश्वर्य और सम्मान की इच्छा बलवती होती गयी। त्रेता के अन्त मे तो राज्य के प्रति लोभ भी हो गया। भगवान् रामचन्द्र का वनवास लोभ का ही परिणाम है, किन्तु वह लोभ अकुलीनों में ही था। दासी कुबरी के मन में ही यह पाप उत्पन्न

हुआ और उसने छल प्रपञ्च से महारानी कैकेयी को वश में कर लिया, किन्तु भरतजी के मन में राज्य का रंचक मात्र भी लोभ नहीं हुआ। चोदह वर्ष राज्य भोग कर भी उसे पुनः रामजी को ज्यों का त्यों लौटा दिया। उस समय राज्य के लिये लोभ का श्री गणेश था द्वापर के अन्त में तो राज्य के लिये लोभ पूर्ण रीत्या होने लगा। कंस ने राज्य लोभ से ही पिता को बंदी बना लिया अपनी जाति के लोगों को निर्वासित कर दिया। महाभारत युद्ध राज्य लोभ के ही कारण हुआ। दुर्योधन अन्याय से राज्य देना नहीं चाहता था पाडव चाहते थे हम क्षत्रिय पुत्र होकर राज्य हीन होकर रहना अधर्म समझते हैं हम अपने पैतृक राज्य के अधिकारी हैं। इसी पर युद्ध हुआ। धर्म युद्ध होना बुरा नहीं है, किन्तु कलियुग के प्रभाव से महाभारत युद्ध में अधर्म भी बहुत हुआ। बहुत से कार्य धर्म विरुद्ध हुए। कलियुग आने पर तो राज्य के लिये हत्यायें भी होने लगीं। भाई भाई का राज्य के लिये अधर्म पूर्वक वध करने लगा। जब घोर कलियुग आ जायगा, तब दिन रात्रि राज्य के लिये हत्यायें होंगी। इसी लिये कलियुग मे कोई स्थाई राज्य वंश न रहेगा। जो अधिक धूर्त प्रपञ्ची होगा वही अधिकार कर लेगा, कोई उससे भी बड़ा धूर्त आ जायगा, वह उससे शासन की बागडोर छीन लेगा। लोग इसे उन्नति या धर्म समझेंगे यही भगवान् की माया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रद्योत वंशी पाँच ही राजा हुए। यह अधर्म का फल है कहाँ तो मनु से लेकर कलिकाल तक चन्द्र और सूर्य वंश अविच्छिन्न चले आ रहे थे, कहाँ ये दूसरों को मार कर राज्य लोलुप राजागण दो चार पीढ़ी में ही लुप्त हो जाने वाले पृथिवी के शासक हुये। घोर कलिकाल में दो चार वर्ष ही अथवा कुछ ही दिन राज्याधिकार पाकर ये स्वल्प पुण्य वाले कलियुगी शासकगण पदच्युत कर दिये जायँगे।

प्रद्योत वंशी राजाओं के अनन्तर शिशुनाग राजा हुए। नाग एक उपदेवों की जाति है। उपदेवों का मानवी क्षत्राणियों से सम्बन्ध होने पर एक नाग वंशी क्षत्रियों की जाति हुई। जैसे गन्धर्व और मनुष्यों के संसर्ग से एक गन्धर्व जाति हुई, जिनका शासन पंच नद प्रान्त पर था। कैकय देश के राजा का भी राज्य इन गन्धर्वों ने छीन लिया था। तब भरत जी ने इन गन्धर्वों को विजय करके अपने पुत्रों को राजा बनाया। इसी प्रकार नागवंशी राजाओं का भी माथुर मण्डल चम्पावती आदि पुरियों में राज्य था और उनमें बहुत प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजा भी हुए। शिशुनाग उन्हीं उन्हीं वीर क्षत्रियों में था। प्रद्योत नन्दि वर्धन को जीत कर शिशुनाग मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। काकवर्ण का पुत्र क्षेम धर्मा और क्षेमधर्मा का पुत्र क्षेत्रज्ञ हुआ। क्षेत्रज्ञ का पुत्र विधिसार हुआ जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। यह बड़ा प्रतापी राजा हुआ। यह बौद्ध धर्म से प्रभावित था। इसकी दो रानियाँ थीं। एक तो वैशाल देश की राजकुमारी वैशाली और दूसरी कोशलराज की पुत्री कोशला या बासवी थी। बासवी बड़ी रानी थी जो निस्संतान थी। वैशाली छोटी थी उसी के गर्भ से अजातशत्रु का जन्म हुआ।

अजातशत्रु बहुत बडा शूरवीर पराक्रमी सम्राट हुआ यह अपने पिता बिधिसार को अपदस्थ करके स्वयं सम्राट हुआ। अपने नाना से इसे काशी का राज्य मिला था और स्वयं यह मगध का राजा था ही। कोशल नरेश प्रसेनजित् से काशी प्रान्त के विषय में संघर्ष हुआ जिसमें अजातशत्रु को हारना पडा। पीछे प्रसेनजित् ने अपनी कन्या वाजिरा कुमारी का विवाह अजातशत्रु से कर दिया। तदनन्तर अजातशत्रु ने दिग्विजय की और उसने बहुत से राजाओं को अपने अधीन बना लिया। यह राजा देश विदेशों में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसके पश्चात् बौद्ध धर्म की वृद्धि

हुई। गौतम बुद्ध तथा गत इसके समय में वर्तमान थे और भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करके उपदेश देते थे।

अजातशत्रु का पुत्र दर्भक हुआ। यह भी पिता के सदृश शूर वीर था। इसकी एक पुत्री पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के राजा उदयन के साथ हुआ था। उदयन की बड़ी रानी अवन्ती नरेश की पुत्री वासवदत्ता थी, जो बड़ी प्रसिद्ध हुई। उन दिनो अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, वृज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, सूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गांधार और कांबोज आदि प्रसिद्ध राष्ट्र थे। इनमें से अधिकांश बौद्धधर्म से प्रभावित थे। मगध का सिंहासन उन दिनों सबसे श्रेष्ठ समझा जाता था। वैसे तो सभी राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र मानते थे, किन्तु मगध के प्रति सब का सम्मान था उसे सभी श्रेष्ठ मानते थे, इसी लिये मैं इस राज्य को ही वंश परम्परा सुना रहा हूँ।

सम्राट अजात शत्रु के पुत्र दर्भक हुये। दर्भक के अजय और अजय के नन्दि वर्धन हुये। नन्दि वर्धन का पुत्र महानन्दि हुआ। महानन्दि तक यह वंश शुद्ध रहा। ये दस शिशुनाग वंशी राजा परम्परा से शुद्ध रक्तवीर्य के हुए। तीन सौ साठ वर्ष तक मगध के सिंहासन पर शिशुनाग वंशी राजाओं का आधिपत्य रहा। महानन्दि के पश्चात् इस वंश की विशुद्धता नष्ट हो गई।

राजाओं की बहुत रानियाँ होती थी। सबसे बड़ी पट्टरानी कहलाती थी, वह विशुद्ध राज्यवंश की होती थी, उसके अतिरिक्त जितनी रानियाँ होती थीं वे सब साधारण रानियाँ कहलाती थीं। ब्राह्मण वर्ण को छोड़कर सभी वर्ण की रानियाँ होती थी। पट्टरानी के गर्भ से जो पुत्र होता था वही युवराज कहलाता था। वही पिता के राज्य का अधिकारी माना जाता था। और रानियों से उत्पन्न कुमार भिन्न भिन्न जाति के होते थे। जैसे साधारण क्षत्रिय जाति की रानी से उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय होता था। वैश्य जाति

की रानी से उत्पन्न खत्री या वैश्य और शूद्र जाति की रानी से उत्पन्न शूद्र प्रायः ही माना जाता था। महानन्दि की एक शूद्रा जाति की रानी थी। उसके गर्भ से नन्द नामक एक पुत्र हुआ। महानन्दि की पट्टरानी से कोई पुत्र नहीं था। जो राज्य का अधिकारी हो सके। यह शूद्रा से उत्पन्न नन्द बडा ही बुद्धिमान था। यह वृपल होकर भी मगध के सिंहासन पर बैठ गया। इसके पास विपुल धन था। कहते हैं महापद्म की जो संख्या है इतना धन इसके पास था। शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण यह शुद्ध क्षत्रियों से द्वेष करता था और क्रोधी भी था। सभी राजा इसकी आज्ञा मानते थे, इसकी आज्ञा का उल्लङ्घन देशी विदेशी कोई भी राजा नहीं करता था। इस नन्द के आठ पुत्र हुए। अब निश्चय यह हुआ कि हम आठों भाई क्रम से राजा हों। जैसे प्राचीन प्रथा थी, कि राजा का बडा पुत्र ही राज्याधिकारी माना जाय, इस प्रथा को इन्होंने उडा दिया और सभी राज्यपुत्र राज्य के अधिकारी माने जाने लगे। आठ नन्द तो ये सुमाल्य आदि थे और एक इनका पिता नन्द इस प्रकार ये नव नन्द कहाये। लग भग एक सौ वर्ष इन नवों नन्दों का राज्य रहा। तदनन्तर मौर्य वंश का राज्य हो गया। नन्द वंश का नाश एक क्रुद्ध ब्राह्मण ने कर दिया और उसी ने चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बना दिया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! वह ब्राह्मण कौन था? नन्दवंश पर वह ब्राह्मण कुपित क्यों हुआ? उसने किस प्रकार नन्द वंश का नाश किया और चन्द्रगुप्त मौर्य को उसने राजा कैसे बनाया? कृपा करके इस कथा को हमें सुनाइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—'भगवन्! ये जो कलियुगी मनुष्य हैं, वे इतिहास का अर्थ यही समझते हैं, कि जो राजा हो गये हैं, उनकी अच्छी बुरी सभी घटनाओं का उल्लेख कर देना। उनके मत में इतिहास का इतना ही उद्देश्य है। अमुक राजा किस

सम्वत् सर मे उत्पन्न हुआ, किस सम्वत् में सिंहासनारूढ़ हुआ, किस से लड़ा किसने उस पर चढ़ाई की आदि आदि। किन्तु पौराणिकों का उद्देश्य है कौन सा राजा कितना धार्मिक हुआ। धर्म मर्यादा का उसने कितना पालन किया। द्वापर तक के राजा धर्मात्मा होते थे, इसलिये उनकी कथायें मेरे गुरुदेव भगवान् शुक ने विस्तार से सुनायीं। अब ये कलियुगी राजा तो शूद्र प्रायः हो गये हैं। इनमें शुद्ध क्षत्रिय रज वीर्य का अभाव हो गया है। ये सब काम वासना से उत्पन्न होने के कारण कामी और लोभी हो गये हैं। नन्द वंश शुद्ध क्षत्रिय वंश नहीं था। उसका नाश एक अत्यंत क्रोधी कूट नीतिज्ञ नीति निपुण क्रूर ब्राह्मण ने छल बल से कराया। इसका वर्णन पौराणिक पद्धति के अन्तर्गत नहीं है। क्रम जोड़ने को मेरे गुरुदेव ने इस घटना का उल्लेख मात्र कर दिया है। फिर भी आपने प्रश्न किया ही है, तो मैं इस कलियुगी चरित्र को अत्यंत ही संक्षेप में सुनाता हूँ। आपके प्रश्नों का उत्तर देता हूँ, आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

दर्भक के सुत अजय नन्दि वर्धन सुत ताके।
महानन्दि तिन भयो शुद्ध नहिं सुत पुनि ताके॥
है अन्तिम शिशुनाग वंश को महानन्दि नृप।
वरष तीन सौ साठ राज्य कीयो सबइनि नृप॥
शूद्रा तैं उतपन्न इक, महानन्दि को सुत बली।
महापद्म धन को अधिप, नन्द परम भूपति छली॥

—:०:—

नन्द वंश विनाश

(१३३७)

नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ॥*

(श्रीभा० १२ स्क० १ अ० १२ श्लो०)

छप्पय

महा पद्म नृप नन्द क्षत्र कुल को संहारक ।
शूर बीर अति बली सकल पृथिवी को पालक ॥
भये तासु सुत आठ कहाये नव नन्दहु सब ।
अति व्यभिचारी वृषल, विप्र प्रकट्यो कोपी तब ।
परम कुटिल कौटिल्यमुनि, को आदर तिनि नहिं कियो ।
युक्ति सहित तिनि नन्द को, नाश राज्य कुल करि दियो ॥

जैसा लक्ष्य होगा वैसा साधन भी होगा हमारा लक्ष्य संसारी है, तो हमें संसार की भाँति वर्तना होगा और हमारा लक्ष्य परमार्थ है, तो फिर संसार को भुलाना ही पड़ेगा। जिनकी दृष्टि में धन, ऐश्वर्य, प्रभुता तथा सासारी वस्तुओं का मूल्य है, उन्हें उन वस्तुओं

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन् ! तदनन्तर नव नन्दों को जो कि प्रपन्न हैं उन्हें कोई ब्राह्मण समूल नष्ट कर देगा। उनके अभाव में कलियुग में मौर्य वंशी नृपति गण इस पृथिवी का उपभोग करेंगे।"

को प्राप्त करने के लिये उन्हीं सब उपायों को करना होगा, जिन उपायों से वे प्राप्त होती हैं। अन्तर इतना है, जो निकृष्ट स्वार्थ वश इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये हिंसा तथा अन्यान्य कुटिलतायें करते हैं, वे निन्द्य समझे जाते हैं, किन्तु जो परोपकार भावना से त्याग का आश्रय लेकर इन्हें करते हैं वे स्तुत्य माने जाते हैं, जो निजी स्वार्थ वश बल पूर्वक दूसरों का धन छीन लेते हैं वे चोर डाकू कहलाते हैं, किन्तु राजा राजसूय अश्वमेधादि यज्ञों के निमित्त जो धन छीनते हैं उसकी प्रशंसा ही की जाती है। जिसकी दृष्टि मे देह ही सब कुछ है उन्हें सम्मान से सुखी और अपमान से दुखी होना ही पड़ेगा, किन्तु जिनकी दृष्टि में देह नाशवान् और क्षण भंगुर है जो सदा आत्मा में ही रमण करते हैं, उनके लिये मान अपमान दोनों बराबर हैं। आत्मा तो सब से अधिक सम्माननीय है उसका सम्मान कोई कर ही क्या सकता है उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं, फिर उसका अपमान करेगाही कौन ?" इसलिये परमज्ञानी मान अपमान दोनों मे सम रहते हैं।

एक व्यक्ति का किसी ने अत्यधिक अपमान किया वह एक महात्मा के समीप गया और बोला—'भगवन्! अपमान से बढ़कर क्षोभ करने वाला दूसरा कोई व्यापार नहीं। अमुक ने मेरा घोर अपमान किया है इससे मुझे बड़ा क्लेश हो रहा है, कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे अपमान होने पर भी क्लेश न हो ?"

यह सुनकर महात्मा बड़े हँसे और हँसते हुए बोले—'देखो, एक मोरी है, उसके नीचे गंदे पानी का कुंड है। गृहस्थी उसी में से मल मूत्र बहाता है वह आकर उस कुंड में जमा हो जाता है। तुम उस कुन्ड में बैठ जाओ, और आशा करो कि मेरे ऊपर गंदा पानी न गिरे और दुर्गन्ध न आवे तो यह हो सकता है ?"'

जिज्ञासु ने पूछा—"इसका अभिप्राय क्या हुआ।"

महात्मा बोले—"अभिप्राय यही हुआ कि यह शरीर मल मूत्र का थैला है। इसमें तुम राग करोगे तो मान अपमान दोनों ही होंगे। शरीर में ममता रहे और मान अपमान का अनुभव न हो यह असंभव है। तुम आत्मा में रमण करो शरीर के मान अपमान की ओर ध्यान ही मत दो। तुम्हें कभी भी क्लेश न होगा। यह तो अध्यात्मवाद हुआ। किन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कोई व्यक्ति बहुतों का अपमान करता है दूसरों को क्लेश देता है, तो परोपकार भावना से जैसे हो तैसे उसका अन्त करा देना चाहिये। यदि उसके अन्त कराने में अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं, तो वह कार्य गर्ह्य नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत नीतिज्ञ लोग उसकी प्रशंसा ही करेंगे।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! मैंने आपको शिशुनाग वंशीय राजाओं का चरित्र सुनाया। अब मैं नवनंदों के राज्य और उनके विनाश की कथा सुनाता हूँ। महानन्दि की शूद्रा रानी के गर्भ से उत्पन्न महापद्म नंद मगध के सिंहासन का अधीश्वर हुआ उसके सुमाल्य आदि आठ पुत्र राजकाज में पूर्ण सहयोग देते थे और वे सब के सब अपने को राज्य का अधिकारी मानते थे। महापद्म नंद वैसे बुद्धिमान तो बड़ा था, किन्तु साथ ही साथ वह क्रोधी भी था। क्रोध को समस्त पापों का मूल बताया है। क्रोधी का कोई साथी नहीं होता उसके सगे सम्बन्धी भी समय पड़ने पर उसके शत्रु बन जाते हैं। महापद्म नंद के दो मंत्री थे। एक का नाम था शकटारक दूसरे का नाम था राक्षस। शकटारक लेखक वर्णका शूद्र था और राक्षस ब्राह्मण था। शकटारक बड़ा ही कूट नीतिज्ञ तथा बुद्धिमान था। वह राजा का अत्यन्त प्रिय तथा विश्वास पात्र था। नंद राजा क्रोधी स्वभाव का तो था ही किसी बात पर वह शकटार से अप्रसन्न हो गया। तुरन्त उसने शकटारक मंत्री को बन्दी बना लिया। एक भीषण कारागार में उसे बन्द कर दिया।

उसके परिवार भर के लिये उसे केवल दिन भर मे दो सेर सत्तू दिये जाते थे और कुछ भी नहीं दिया जाता था। इस घोर अपमान से शकटार का हृदय जल भुन कर राख हो गया था। कहाँ तो वह एक साम्राज्य का सर्वेसर्वा था कहाँ आज वह परिवार सहित कारावास की कठिन यन्त्रणाओं को सह रहा था। वह भी किसी अपराध के कारण नहीं। केवल नन्द को हाँ उसने नहीं मिलायी थी। इन्हीं सब कारणों से वह नन्द वंश से चिढ गया। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की, कि मैं अपने जीवन में नन्द वंश का नाश करके ही सुख की सांस लूँगा।

जब उसके सम्मुख नित्य दो सेर सूखे सत्तू आते तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता। वह सत्तुओं के पात्र को लेकर अपने परिवार के लोगों के समीप जाता और कहता—'जो एक भी नन्द का नाश कर सकता हो वही इन सत्तुओं को खाय।" यह सुन कर कोई भी उन सत्तुओं को नहीं खाता था। स्वयं उसे विश्वास था कि मैं नन्द वंश का विनाश कर सकूँगा, इसलिये प्राण रक्षा के लिये स्वयं वह कुछ सत्तू खा लेता। उसके परिवार के जितने लोग थे वे बिना खाये शनैः शनैः सब के सब मर गये। इससे शकटार को दुःख तो बडा किन्तु प्रतिशोध की प्रचण्ड भावना के आवेश मे उसने ये परिवार के विनाश तथा कारावास के समस्त दुखों को बडे धैर्य के साथ सहन किया। वह रात्रि दिन वंश के विनाश की बात ही सोचता रहता। किसी प्रकार यदि मैं कारावास से निकल जाऊ तो अनेक युक्तियों द्वारा इस नन्द वंश का अन्त कर दूँ। उसी समय भाग्यवश एक ऐसी विलक्षण घटना घटित हुई कि उसका मनोरथ सिद्ध हो गया।

एक दिन राजा नन्द अन्त पुर में बैठ कर कुल्ला कर रहे थे। एक विचक्षणा नाम की दासी जो राजा के मुँह लगी थी, वह उन्हें पानी दे रही थी राजा कुल्ला करते जाते थे और मुसकराते जाते

कुल्ला करके हाथ पैर धोकर वे भीतर जाने लगे कुछ बात स्मरण आने से वे हँस पड़े। राजा को हँसते देख कर वह मुँह लगी दासी भी हँस पड़ी। राजा झक्की स्वभाव का तो था ही साथ ही क्रोधी भी था। दासी के हँसने पर उसने अपना अपमान अनुभव किया। उसने डाँट कर पूछा"तू क्यों हँसी।

दासी तो मुँह लगी थी ही, उसने समझा महाराज मुझ से विनोद कर रहे हैं, इस लिये तत्काल उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे उसी बात पर मैं हँसी।"

इस पर राजा को और भी क्रोध आ गया। उसने पूछा—"अच्छा, बता मैं किस बात पर हँसा ?"

राजा की आकृति को देखकर और उसके ऐसे प्रश्न को सुन कर दासी की तो सिटिल्ली भूल गयी। अब वह समझ गयी, मुझसे धृष्टता बन गई राजा इस समय क्रोध में हैं। इस समय मैंने कुछ अट संट उत्तर दिया तो राजा की क्रोधाग्नि और बढ़ेगी और यदि मैंने कुछ भी उत्तर न दिया तो राजा तुरन्त मरवा डालेगा, इस लिये जैसे हो तैसे इस समय को टालना चाहिये।" यही सोचकर उसने हाथ जोड़ कर मुख मे तृण दबा कर कहा—"अन्नदाता ! मुझे इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये एक महीने का अवकाश मिलना चाहिये।"

राजा तो झोंक मे था ही, उसने तुरन्त कहा—"अच्छा, जा एक महीने का समय मैंने दिया यदि एक महीने में तू ठीक ठीक उत्तर न दे सकी, तो तेरा सिर धड़ से पृथक करा दिया जायगा।"

यह कह कर राजा अन्तःपुर मे चला गया, दासी को तो मानों पाला स मार गया हो। वह ज्यों की त्यों ही खड़ी रही। उसे सम्पूर्ण संसार सूना ही सूना प्रतीत होता था। जैसे तैसे वह अपने वासस्थान मे गयी। उसका समय कटना भारी हो गया, ज्यों ज्यो दिन बीतते त्यो त्यों उसे अपनी मृत्यु निकट निकट

दिखायी देती थी। उसे भोजन पान कुछ भी नहीं सुहाता था, वह चिन्ता के मारे घुली जाती थी। जब नियत अवधि में कुछ ही दिन अवशेष रह गये, तब सहसा उसे एक उपाय सूझा। उसने सोचा—"महा मंत्री शकटार बड़ा बुद्धिमान है। वह बृहस्पति के सदृश नीतिज्ञ है, आज कल वह कारावास में बन्द है, क्यों नहीं उसी से चल कर यह बात पूछूं। वह अवश्य ही अपनी बुद्धि से मेरी भावी विपत्ति को टाल देगा।" ऐसा विचार आते ही उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह कुछ भोजन की सुन्दर सामग्री लेकर शकटार के समीप गयी। सेवक सभी जानते थे विचक्षणा राजा की कृपा पात्री है अतः उसे मंत्री के समीप जाने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं हुई।

राजा की प्रिय दासीकी ऐसी दशा देखकर शकटार ने उसका कारण पूछा। दासी ने रो रो कर अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया और कहा—"आप ही मेरी इस विपत्ति से रक्षा कर सकते हैं अब मेरा मृत्यु में कुछ ही दिन शेष हैं।"

शकटार ने पूछा—"जब राजा हँसे थे उसके पूर्व कौन काम करते थे।"

दासी ने कहा—"उसके पूर्व क्या करके आये थे यह तो मैं जानती नहीं, किन्तु वे बार बार कुल्ला करते जाते थे और मुसकराते जाते थे।"

मंत्री ने पूछा—"कुल्ला के पानी को वे कहाँ गिराते थे।"

दासी ने कहा—"एक ऊँचा सा पत्थर था उसी पर वे बार बार कुल्ला कर रहे थे।"

यह सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हुए शकटार ने कहा—"मैं राजा के हँसने का कारण समझ गया।"

दासी ने अत्यन्त ही उत्सुकता के साथ पूछा—"क्या समझ गये महात्म !"

शकटार बोला—"राजा जब कुल्ला कर रहे थे और कुल्ला का पानी उस पत्थर पर गिर रहा था तो उससे अत्यन्त छोटे छोटे बिन्दु उड उड कर इधर उधर गिर रहे थे। उन अत्यन्त छोटे छोटे बिन्दुओं को देखकर राजा को बट के छोटे छोटे बीजों की याद आ गयी होगी और उसे भी ध्यान आया होगा, कि इतने छोटे छोटे से बट बीज मे कितना विशाल वृक्ष छिपा रहता है, पृथिवी पर पडते ही उचित अवसर पाकर जल पडने से वही बीज विशाल वृक्ष के रूप मे परिणत हो जाता है। जब वे छोटे छोटे बिन्दु भूमि मे पडने ही विलीन हो जाते होंगे तो राजा उनकी नश्वरता को स्मरण करके हँस रहा होगा।"

यह सुन कर दासी को कुछ धैर्य हुआ। उसने हाथ जोड कर कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"मन्त्री जी! यदि आपका अनुमान सत्य निकला और मेरे प्राणों की रक्षा हो गयी, तो मैं जीवन भर आपकी दासी बनी रहूँगी और शक्ति भर आपको कारावास से छुडाने का प्रयत्न करूँगी।" यह कह कर और महामन्त्री को प्रणाम करके विचक्षणा चली गयी।

एक दिन राजा के सम्मुख वह दासी पड गयी राजा ने उसे बुला कर पूछा—"तैंने मेरे प्रश्न का उत्तर दिया नहीं ?"

यह सुनकर दासी ने भय से काँपते काँपते वही उत्तर दिया जिसे शकटार ने बताया था। इस उत्तर को सुनकर राजा के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। बात यथार्थ मे यही था। राजा यही सब सोच कर हँस रहे थे। राजा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छा, तू सच सच बता तुझे यह उत्तर बताया किसने ?"

इस पर विचक्षणा ने हाथ जोड कर कहा—"यदि दासी का अपराध क्षमा हो तो मैं बताऊँ।"

राजा तो प्रसन्न ही था, उसने कहा—"तेरे सब अपराध क्षमा है, तू मुझे सत्य सत्य बात बता दे।"

दासी ने कहा—"अन्नदाता! मुझे महामात्य शकटार ने यह यह सब बतायी थी।"

इतना सुनते ही राजा को बडा हर्ष हुआ साथ ही अपनी करनी पर दुःख भी हुआ। उसने सोचा—"इतने बुद्धिमान मंत्री को मैंने इतना कठिन दंड देकर अनुचित किया। वह बडा ही बुद्धिमान और कार्य दक्ष है।"

अब तो दासी को अवसर मिल गया और उसने विनीत भाव से शकटार को मुक्त करने की प्रार्थना की। राजाओं का चित्त ही जो ठहरा। तुरन्त राजा ने शकटार को कारावास से मुक्त करने की आज्ञा दी। यही नहीं उसे राक्षस के नीचे मन्त्री भी बना दिया। यद्यपि यह शकटार का घोर अपमान था। प्रधान मंत्री से उसे उपमन्त्री बनाया गया, किन्तु नंद वंश के विनाश की प्रतिज्ञा का पूर्ण करने की इच्छा से उसने कारावास की ही भाँति इस अपमान को भी सहर्ष सह लिया और वह उपमंत्री बन कर नंद वंश को नाश करने के उपाय सोचने लगा। उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गयी कि शकटार को अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने का एक सहज साधन मिल गया।

शकटार एक दिन घोडे पर चढ कर जंगल में जा रहा था। वहाँ उसे वन में एक काला कलूटा कुरूप ब्राह्मण दिखायी दिया। वह बडी तन्मयता से कुशों को जड से खोद रहा था और उनकी जड़ों मे मट्ठा छोड रहा था। दोपहरी का समय था सम्पूर्ण शरीर से पसीना चू रहा था। मध्यान्ह के सूर्य उसके मस्तक को तपा रहे थे, किन्तु वह उनकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर निरन्तर कुशों को उखाडने में लगा था। शकटार को बडा आश्चर्य हुआ। ब्राह्मण के समीप जाकर उसने पूछा—'ब्रह्मन्! आप कौन हैं? और इस दोपहरी में इतना श्रम क्यों कर रहे हैं?"

इस पर ब्राह्मण ने कहा—"महानुभाव! मैं चणक मुनिका

पुत्र हूँ। चाणक्य मेरा नाम है। मैं गुरुकुल से वेद वेदाङ्गों का अध्ययन करके समावर्तन करा कर स्नातक होकर लौटा था। सोचा था चल कर मैं विवाह करूँगा, किन्तु मार्ग में आते आते एक तीक्ष्ण कुशा मेरे पैर में छिद गयी। इससे मुझे बड़ा क्लेश हुआ। इसलिये मैंने निश्चय कर लिया है, कि जब तक मैं यहाँ की सम्पूर्ण कुशाओं का जड़ मूल नाश न कर दूँगा, तब तक विश्राम न लूँगा।"

आश्चर्य चकित होकर शकटार ने पूछा—"ब्रह्मन्! आप कुशों को जड़ से काट रहे हैं यह तो जाना, किन्तु आप इनकी जड़ मे मट्ठा क्यों छोड़ रहे हैं ?"

ब्राह्मण ने कहा—"संभव है कि कुशाओं की कुछ जड़ें भूमि में रह जायँ, जल पड़ने पर उनसे पुनः भी कुशा उत्पन्न हो सकती हैं, अतः मैं इनकी जड़ों मे मट्ठा भी छोड़ता जाता हूँ, मट्ठा छोड़ने से जड़ें तत्काल नष्ट हो जायगी, वे जल जायँगी, इससे फिर कुशा उत्पन्न होने की संभावना ही न रहेगी।"

शकटार ने सोचा—"ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ ब्राह्मण यदि किसी प्रकार नंद वंश पर कुपित हो जाय तो अवश्य ही यह नंद वंश का जड़ मूल से नाश कर देगा। अब मुझे किसी भी उपाय से इसे नंद वंश से क्रुद्ध कराना चाहिये।"

यही सब सोच कर मन्त्री विनीत भाव से बोला—"ब्रह्मन्! मैं मगधेश्वर का मन्त्री हूँ मैं अपने सेवकों से यहाँ की समस्त कुशाओं को उखड़वा दूँगा, आप मेरे अतिथि हों।"

ब्राह्मण ने कुछ देर सोच कर कहा—"अच्छी बात है, आप यदि ऐसा करा दें तो मैं आपके साथ चल सकता हूँ।"

यह सुन कर मंत्री को बड़ी प्रसन्नता हुई वह महामुनि चाणक्य को साथ लेकर अपने यहाँ चला गया। और उन्हें बड़े ही आदर सत्कार से अपने यहाँ रखा। उनके लिये एक पाठ

शाला खुलवा दी। जिसमें बहुत से विद्यार्थी आ आ कर विद्या-ध्ययन करने लगे।

अब शकटार को एक ही चिन्ता थी, किस प्रकार चाणक्य और नंद राजा का बिगाड़ हो। वह चाणक्य को राजा से कुपित कराने का अवसर ढूंढ़ता रहा। एक दिन ऐसा अवसर आ भी गया।

राजा के यहाँ एक श्राद्ध का पर्व था। श्राद्ध मे काला और कुरूप ब्राह्मण निषेध है। महामुनि चाणक्य कृष्ण वर्ण के थे। उनके नेत्र लाल लाल रूखे तथा दाँत कुछ कृष्ण वर्ण के थे। देखने में वे कुरूप भी थे। शकटार ने इसी अवसर को अपनी कार्य सिद्धि के उपयुक्त समझा। चाणक्य को वह निमन्त्रित करके राज भवन में ले गया। जहाँ श्राद्ध होने वाला था वहाँ चाणक्य को ले जाकर प्रधान आसन पर बिठा दिया। और भी ब्राह्मण बैठे थे। वे चाणक्य की विद्या बुद्धि से परिचित थे। जब उन्हें मन्त्री ही प्रधान आसन पर बिठा रहे हैं तो कोई कुछ क्या कहता। जब राजा के आने का समय हुआ तो शकटार किसी कार्य के मिस से वहाँ से खिसक गया। प्रधान मन्त्री राक्षस को लिये हुए राजा जब श्राद्ध स्थान पर आया, तो प्रधान आसन पर उसने एक काले वर्ण के कुरूप ब्राह्मण को देखा। राजा क्रोधी और भक्की तो था ही। उसने क्रोध मे भर कर कहा—"यह कुरूप ब्राह्मण यहाँ उच्चासन पर क्यों है, इसे किसने निमंत्रित किया। इसके बाल पकड कर इसे यहाँ से निकाल दो।"

इतना सुनते ही क्रोधी चाणक्य के रोम रोम मे अपमान की अग्नि प्रज्वलित हो गयी। वह तुरन्त अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया। उसका शरीर क्रोध से काँप रहा था, उसने अपनी बँधी हुई चोटी खोल दी और सब के सम्मुख प्रतिज्ञा करते हुए कहा अब मेरी यह शिखा तभी बँधेगी, जब मैं इस दुष्ट राजा का

सर्वनाश कर दूँगा।" ऐसा कह कर वह तुरन्त राज महल से निकल गया, राजा ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, क्यों कि वह तो बड़ा अभिमानी था, उसने सोचा—"ऐसे ३६०

भिखारी ब्राह्मण फिरते रहते हैं। इस भिक्षुक ब्राह्मण का क्या साहस जो मेरी ओर आँख उठाकर देख सके, अतः उसने ब्राह्मण की बात पर ध्यान ही नहीं दिया, उसकी सर्वथा उपेक्षा करके अपने कार्य में लग गया।

इधर शकटार एकान्त में छिपा छिपा सब देख रहा था। जब चाणक्य क्रुद्ध होकर राजमहल से निकल कर अपने घर जा रहा था, तो मार्ग में शकटार उसे मिला और अत्यन्त ही सत्कार

पूर्वक उसे अपने यहाँ ले गया। उसने राजा की भर पेट निन्दा की और उसकी क्रूरताओं को सुनाया। अपने ऊपर जो बीती थी उसे भी सुनाया। इन सब बातोंने ब्राह्मण की क्रोधाग्नि में घृताहुति का काम किया। ब्राह्मण को अत्यन्त कुपित देखकर शकटार ने कहा—"ब्राह्मन्! नंद वंश के विनाश की जो आपने प्रतिज्ञा की है, उसमें मैं शक्ति भर आप की सहायता करूँगा।"

यह सुन कर चाणक्य को बडी प्रसन्नता हुई उसने शकटार से कहा—"मन्त्री जी। बिना घर के भेदिया के लंका जीती नहीं जा सकती। जब तक कोई अन्तः पुर का भेदिया हमें न मिले, उससे हम सब घर की बातें न जान लें, तब तक हम कुछ भी नहीं कर सकते।"

इस पर शकटार ने कहा—"ब्रह्मन्। मैं आप को अन्तःपुर की एक अत्यन्त ही विश्वसनीय दासी को आप से मिलाऊँगा. जो प्राणों का पण लगा कर सभी प्रकार से आपकी सहायता करेगी और राजा के अन्तःपुर की गुप्त से गुप्त बात आप को बतावेगी।" यह कह कर उसने विचक्षणा को बुलाकर चाणक्य से मिलाया। विचक्षणा ने धर्म को साक्षी देकर चाणक्य के सम्मुख प्रतिज्ञा की कि मैं प्राण रहते रहते आपकी सब सहायता करूँगी। अब चाणक्य अपनी सम्पूर्ण बुद्धि का उपयोग नंद वंश विनाश के ही लिये करने लगा। उसका प्रधान सहायक था राज्य मन्त्री शकटार। चाणक्य दिन रात यही सोचता रहता, कि नंद वंश का विनाश कैसे हो? उसने सोचा नंद वंश का नाश करके राजा किसे बनाया जाय। अब वह एक ऐसे आदमी की खोज करने लगा, जो राजा बनने के उपयुक्त हो, राज्य की उसे इच्छा हो और नंद से जो द्वेष रखता हो।

महापद्म नंद के आठ पुत्र तो उसकी प्रधान रानी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, वे तो राज्य के अधिकारी थे। एक दासी का पुत्र

था। जिसका नाम चन्द्रगुप्त था जो मुरा नाम की दासी से उत्पन्न हुआ था, वह उन आठों नंदों से अत्यन्त ही बुद्धिमान शूरवीर और बली था। उसकी विद्या बुद्धि तथा शूरवीरता के कारण नंद उससे द्वेष करते थे और दासी पुत्र कह कर उसका अपमान भी करते थे, उसे राज्य में कोई अधिकार भी प्राप्त नहीं था।

मनुष्य और सब अपमानों को तो सहन कर सकता है, किन्तु जातीय अपमान सहन करना उसकी शक्ति के बाहर हो जाता है, विशेषकर छोटे कुल में उत्पन्न होने का अपमान शूल की तरह चुभ जाता है। चन्द्रगुप्त जानता था कि यह नंद ही कौन-सा कुलीन है। महानन्दि की शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं किन्तु राज्याधिकारी होने के कारण ये अपने को विशुद्ध क्षत्रिय राजा मानते हैं और हमें शूद्र बताते हैं, मैं इन से विद्या बुद्धि, शूर वीरता तथा पराक्रम में किसी भी प्रकार कम नहीं हूँ, किन्तु मेरे हाथ में अधिकार नहीं है। यदि मुझे कुछ भी अधिकार मिल जाय, तो मैं इनको बता दूँ कि मैं तुम से अच्छा शासन कर सकता हूँ। मन ही मन वह नंदो से जलता था और अधिकार प्राप्त करने के लिये अत्यन्त लालायित था। महा बुद्धिमान शकटार से उसके मनोगत भाव छिपे नहीं थे। शकटार इतना बुद्धिमान था, कि वह उड़ती हुई चिड़िया के सम्बन्ध में सब जान लेता था। उसने चन्द्रगुप्तको चाणक्य से मिलाया। चाणक्य को देखते ही महाकूट-नीतिज्ञ चाणक्य समझ गया, कि यह राजा बनने के सर्वथा योग्य है। राज्य की आकांक्षा के लोभ से यह नंद वंश विनाश में हमारी सब प्रकार की सहायता करेगा। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा— "मैं तुझे सम्राट बना दूँगा, यदि तू मेरी आज्ञानुसार कार्य करेगा तो।" चन्द्रगुप्त तो चाहता ही था उसने धर्म को साक्षी देकर प्रतिज्ञा की—"गुरुदेव! आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा। किसी

भी दशा में मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन न करूँगा।" बस, अब क्या था नंद वंश विनाश की सुदृढ नींव पड गयी। अब उसके ऊपर महल बनाना अवशेष था।

चाणक्य की पाठशाला समाप्त हो गयी। वह अपनी पुरानी कुटी में आकर रहने लगा। उसने अन्तःपुर का सब भेद विचक्षण से ले लिया था उसी के द्वारा अनेकों युक्तियों से विष प्रयोग करा कर उसने शनैः शनैः नंद वंश का नाश करा दिया। यह कार्य इतनी कुशलता से हुआ कि किसी को संदेह ही न हुआ। सब नंदों के मरने पर भी राक्षस मन्त्री की बुद्धिमानी से चन्द्रगुप्त राजा न बन सका। नंद का कोई भाई था उसी को राजा बनाया। महाबुद्धिमान चाणक्य अन्य कई राजाओं को मगध पर चढ़ा लाया इस प्रकार अनेकों युक्तियों से उसने नंद कुल का नाश करके चन्द्रगुप्त को मगधेश्वर बना दिया और आप उसका मंत्री बनकर सब राजकाज को चलाने लगा। तभी से नंद वंश के अनन्तर मौर्य वंश का राज्य हुआ। मौर्य वंश के सर्व प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य हुए। यह सब परम कूट नीतिज्ञ चाणक्य ब्राह्मण की बुद्धि के कारण हुआ।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यंत ही संक्षेप में नंद वंश विनाश की कथा आपको सुनायी। अब मैं आप की मौर्य वंश के राजाओं के सम्बन्ध में सुनाऊँगा। उसे आप समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

शकटारक निज सचिव नन्द बन्दी करि राख्यो।
करयो मुक्त सुनि युक्ति हास्य कारन जब भाख्यो॥
सचिव वैर मन राखि विप्र चाणक्य बुलायो।
युक्ति सहित अपमान कराय नन्द तैं कुपित करायो॥
चन्द्रगुप्त निज पक्ष में, करि भीषन षडयन्त्र द्विज।
मरवाये नवनन्द हू, करी प्रतिज्ञा पूर्ण निज॥

—:※:—

चन्द्रगुप्त मौर्य

(१३३८)

तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ।
स एव चन्द्रगुप्त वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्ययति ॥*

(श्री० भा० ११ स्क० १ अ० १२ १३ श्लो०)

छप्पय

कूटनीति द्विज करी यवन राजा बुलवाये।
युक्ति सहित मरवाइ हराये कछुक भगाये॥
कुटिल विप्र चाणक्य जथारथ नृप अग्निनायक।
चन्द्रगुप्त नृप प्रथम मौर्य कुल के संस्थापक॥
चन्द्रगुप्त द्विज कृपा तें, विश्व विदित नृप ह्वै गये।
द्वितिय मौर्य सम्राट नृप, बारिसार तिनि सुत भये॥

प्रतिभावान् पुरुषों की प्रतिभा समय पाकर कभी न कभी अवश्य ही विकसित होती है। संसार मे शारीरिक बल और बौद्धिक बल ये ही दो प्रधान हैं। बुद्धि विहीन शारीरिक बल

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! नन्द वशाय राजाओं के अभाव में इस पृथवी का कलियुग में मौर्य वंशीय राजा गण उपभोग करेंगे। जिस चन्द्रगुप्त को लेकर चाणक्य ने नन्द वश का विनाश कराया था उसे ही वह विप्र सर्व प्रथम मौर्य वंश के राज्य पर अभिषिक्त करेगा। अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य ही मौर्य वंश का प्रथम राजा होगा।"

अभिमान और पाशविकता की ओर ले जाता है और केवल बुद्धि बल बिना शारीरिक बल के पंगु हो जाता है। इसलिये जहाँ दोनों बलों का समुचित समन्वय होगा वहाँ विशेष उन्नति होगी। पहिले क्षात्र बल और ब्रह्म बल दोनों मिल जुलकर शासन करते थे। ब्राह्मणों के बुद्धि बल का उपयोग राजा गण करते थे और राजाओं के शारीरिक सैनिक बल का समुचित प्रयोग ब्राह्मण गण प्रजा के शासन के काम लाते थे। इसी ब्रह्मक्षात्र बल से प्रजा का पालन होता था। जहाँ राजा स्वेच्छाचारी क्रूर और विषयी हो जाते थे, वहाँ की प्रजा दुखी हो जाती थी, शासन शिथिल पड जाता था और प्रजा के लोग अपने को सुरक्षित अनुभव नहीं करते थे। प्रजा को इस विपत्ति से बुद्धिमान ब्राह्मण ही बचाते थे और अयोग्य तथा विषयी राजा को हटाकर उसके स्थान पर योग्य शासक नियुक्त करते थे। जिन शासकों ने बुद्धिमान त्यागी ब्राह्मणों का आश्रय लेकर उनके मत्र को मानकर शासन किया उनका सदा कल्याण ही हुआ है। वैभवशाली और विलासी का त्यागी और बुद्धिमान ही वश में कर सक्ते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महामुनि चाणक्य ने नंद वंश का विनाश करके चन्द्रगुप्त को ही मगध का राजा बनाया। महानन्दि से लेकर अन्तिम नन्द तक जितने ये राजा हुए ये कुछ ही कुछ समय तक राजा रह सके। कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने शकटाक्ष मन्त्री की सहायता से उन सबको मरवा डाला। चन्द्रगुप्त बाल्यकाल में ही चाणक्य को मिल गया था। नंद वंश से स्वाभाविक ही इसका द्वेष हो गया था। कुछ लोगों का मत है, कि चन्द्रगुप्त का नन्द वंश से कोई रक्त का सम्बन्ध नहीं था। पिप्पली कानन में विशुद्ध मौर्य क्षत्रिय वंश की एक राजधानी थी। उन्हीं मौर्य वंश का कोई सेनापति नन्द के यहाँ था। चन्द्रगुप्त

उसी का पुत्र था। इसके पिता को नन्द ने किसी कारण से कारावास में डाल दिया था। चन्द्रगुप्त राजसभा में रहकर अपने दिन काटता था। किन्तु यह लोगों का भ्रम है। चन्द्रगुप्त अवश्य ही नन्द की शूद्रापत्नी से उसका पुत्र था। इसीलिये चाणक्य ने उसी को नंद वंश का प्रतिद्वंदी चुना। कुछ भी हो। चन्द्रगुप्त नन्द की राजसभा में ही रहता था और वहीं चाणक्य से उसका परिचय हुआ। चन्द्रगुप्त के बाल्यकाल की एक कथा प्रसिद्ध है।

चन्द्रगुप्त की माता अपने पिता के यहाँ थी तब चन्द्रगुप्त कहीं बालकों के साथ ग्राम के समीप खेल रहा था। बहुत से बालक

उसके साथ थे। उन बालकों को प्रजा बनाकर वह स्वयं राजा बना हुआ था और खेल ही खेल में सबका न्याय कर रहा था।

दैवयोग से महामुनि चाणक्य भी उधर से निकले बड़ी देर तक वे बालकों के खेल को देखते रहे। चन्द्रगुप्त की कुशाग्र बुद्धि को देखकर वे विमुग्ध हो गये थे। प्रजा बने बालक जो भी अभियोग लेकर आते, राजा बना हुआ बालक चन्द्रगुप्त उसका बड़ी बुद्धिमानी से निर्णय करता। उसी समय याचक बनकर चाणक्य ने कहा—"राजन्! मैं ब्राह्मण हूँ मुझे एक गौ दीजिये।"

राजा बना बालक चन्द्रगुप्त न तो सकुचाया और न वह सिट पिटाया उसने निर्भीक होकर कहा—"हाँ विप्रदेव! मैं आपकी इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। सामने ये गौएँ चर रही हैं, इनमें से जो भी आपको अच्छी लगे उसी को आप लें।"

याचक बने चाणक्य ने कहा—"राजन्! न जाने ये किसकी गौएँ हैं, मैं ले लूँगा तो वह मुझसे क्रुद्ध होगा।"

इस पर आवेश में आकर राजा बने चन्द्रगुप्त ने कहा—"मेरे राज्य में ऐसा कौन है, जो ब्राह्मण पर क्रुद्ध हो। आप निर्भय होकर गौ ले जायँ।"

छोटे बालक की ऐसी निर्भीक बात सुनकर चाणक्य को बड़ा हर्ष हुआ। उसी समय बालक की माता आ गयी, उसने जब ब्राह्मण से क्षमा याचना की, तो ब्राह्मण ने कहा—"यह बालक अवश्य सम्राट होगा। तुम इसे राजधानी में ही रखना।" यह कहकर ब्राह्मण चला गया।" संयोग की बात कि जब चाणक्य ने नंदवंश विनाश की प्रतिज्ञा की तब शकटारक ने इसी कुमार चन्द्रगुप्त को उनके सम्मुख समुपस्थित किया और इन्होंने राजा बनने की प्रतिज्ञा की।

चन्द्रगुप्त की बुद्धिमानी के सम्बन्ध की बहुत सी गाथायें प्रचलित हैं, उनमें से यह भी है, कि किसी राजा ने नंद के यहाँ एक पींजड़े में बंद करके सिंह भेजा और कहला दिया बिना पिंजड़ा खोले ही इस सिंह को निकाला जाय। राजसभा के

सभी सभा सद चकरा गये, किन्तु चन्द्रगुप्त ने कहा—"मैं इसे निकाल दूंगा।" उसने अनुमान लगाया कि या तो यह सिंह किसी ऐसी वस्तु से बना है जो पानी डालने से गल जायगा या आग लगाने से पिघल जायगा। इसलिये पहिले उसने पानी डाला तदनंतर गरम लोहे की साँकर लेकर छुवाया। गरम लोहा लगते ही पिघल गया, क्योंकि वह लाख तथा मोम का बना था। इस पर सभी लोग चन्द्रगुप्त की बुद्धि की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे।

जिन दिनो चाणक्य चन्द्रगुप्त को मगधेश्वर बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, उन दिनों भारतवर्ष मे अनेक छोटे छोटे स्वतन्त्र राजा थे उन सबको जीतने के लिये यवन देश से सिकन्दर अपनी बडी भारी सेना लेकर आया था और उसने कुछ राजाओं को जीत भो लिया था, किन्तु चाणक्य की बुद्धि मत्ता से उसके पैर यहाँ जम न सके, वह अपने देश को लौट गया। उधर चाणक्य ने अनेक उपायों से किसी राजा को मरवा दिया, किसी पर विष कन्या का प्रयोग किया, किसी को किसी से भिडा दिया और अन्त में चंद्रगुप्त मौर्य को मगधेश्वर बना दिया।

चंद्रगुप्त ने अपने बाहुबल तथा चाणक्य की नीति से भारतवर्ष के प्रायः सभी राजाओं को अपने अधीन कर लिया और विदेशों क राजाओ से सन्धि कर ली। सभी उससे मित्रता करने को उत्सुक थे, सभी उसकी वीरता का लोहा मानते थे। उन्हीं दिनों मिस्र आदि देशों का राजा सेल्यूकस ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की और कुछ देशों को जीत भी लिया। चंद्रगुप्त ने उसका सामना किया और उसे परास्त भी किया। सेल्यूकस ने चंद्रगुप्त से संधि कर ली और अपनी कन्या का विवाह भी चन्द्रगुप्त से कर दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त आसमुद्रान्त पृथिवी का सम्राट हुआ। उसी चन्द्रगुप्त

का पुत्र वारिसार हुआ और वारिसार का पुत्र अशोकवर्धन हुआ जो इतिहास में बहुत ही प्रसिद्ध है, जिसके शिलालेख और सिक्के अभी तक विपुलमात्रा में मिलते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं चन्द्रगुप्त के पुत्र और पौत्र वारिसार, अशोकवर्धन तथा उसके अन्यान्य वंशजों का संक्षेप में वृत्तान्त सुनाऊँगा। यद्यपि ये लोग वृषल होने से वैदिक धर्म के शत्रु हो गये। फिर भी प्रसंग मिलाने को इनका संक्षिप्त इतिहास मैं आपसे कहता हूँ।

छप्पय

वारिसार या बिन्दुसार नृप भद्रसार वर।
चन्द्रगुप्त सुत इन नामिनि तैं भयो उजागर॥
शत्रु सँघाती विदित पिता सम देश विदेशनि।
रहें विदेशी दूत सभा में भूप असंख्यनि॥
तिनिके पुत्र अशोक नृप, भये यशस्वी जग विदित।
मानें नृप आज्ञा सकल, नित्य अहिंसा महँ निरत॥

वारिसार अशोक तथा अन्यान्य मौर्य वंशी नृपतिगण

(१३३९)

तत्सुतो वारि सारस्तु ततश्चाशोक वर्धनः।
सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशः सुतः।
शालिशूकस्ततस्तस्य सोम शर्मा भविष्यति॥

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

शिलालेख खुदवाइ जीवहिंसा हटवाई।
भिक्षु धर्म स्वीकारि दया सब पै दरसाई॥
विप्र, भिक्षु सम्मान दान सबकूँ ही देवें।
सदाचार सम्पन्न भिक्षु ज्ञानिनि कूं सेवें॥
तिनि का सुत सुयशा भयो, सुयशा सुत सगत अजय।
शलि शूक सगत तनय, तासु शोम शर्मा तनय॥

पुत्र वही कहाता है जो पिता से प्राप्त द्रव्य तथा गुणों की रक्षा ही नहीं करता अपितु उनको नित्य नित्य बढाता ही रहता है। जो पिता से प्राप्त सम्पत्ति को नष्ट करके उसका ससार

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! चन्द्रगुप्त का पुत्र वारिसार होगा उसका पुत्र अशोक वर्द्धन का पुत्र सुयशा उसका सङ्गत सङ्गत का शालिशूक तथा शालिशूक का पुत्र सोमशर्मा होगा।"

में अपयश करता है उसे पुत्र न कहकर मूत्र कहना ही उपयुक्त होगा। क्योंकि दोनों एक ही स्थान से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये शास्त्र कारों ने कहा है, कि पुत्रके लिये सम्पत्ति एकत्रित करने की विशेष चिन्ता न करनी चाहिये, क्योंकि यदि सुपुत्र हुआ तो वह अपने पुरुषार्थ से थोडी भी सम्पत्ति को बहुत कर लेगा, यदि वह कुपुत्र है, तो उसके लिये चाहे जितनी भी सम्पत्ति एकत्रित करके रख जाओ, वह सबको नष्ट कर देगा। चन्द्रगुप्त का पुत्र वारिसार सुपुत्र ही था, उसने अपने पिता से प्राप्त राज्य की वृद्धि ही की और मौर्य वंश की विजय वैजयन्ती दशों दिशाओं में फैलायी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र वारिसार हुआ। यह यूनानी राजा सेल्यूकस की पुत्री से उत्पन्न हुआ था। इसके बिन्दुसार, बारिसार तथा भद्रसार कई नाम मिलते हैं, यह बडा ही तेजस्वी राजा हुआ। देश विदेश के सभी नृपति गण इसका लोहा मानते थे। विदेशों के बहुत से राजाओं के राजदूत इसकी सभा में रहते थे और अपने देश के बहुत से राजाओं ने भी इसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। यह अपने पिता के बताये हुए मार्ग का ही अनुसरण करता था। इसने भी अपने पिता के समान काल तक राज्य किया। अर्थात् चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज्य किया और इसने २५ वर्ष तक। इसके पश्चात् इसका पुत्र अशोक मौर्य वंश के सिंहासन पर बैठा।

अशोक वर्धन

अशोक तो अपने पिता तथा पितामह। दोनों से ही अधिक यशस्वी और दिग्विजयी हुआ। सम्पूर्ण भारतवर्ष के ही नहीं अपितु विदेशों के राजा भी इसके अधीन थे। अब तक इसके पिता पितामह जिस किसी प्रकार वैदिकधर्म के ही अनुयायी थे, इसने भिक्षुओं की शिक्षा ग्रहण करके बौद्ध धर्म स्वीकार कर

लिया और उसका देश विदेशों में अत्यधिक प्रचार और प्रसार किया। सुनते हैं इसे कलिंग देश के राजा को विजय करने में बहुत बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी, जिसमें लाखों मनुष्यों का संहार हुआ, उसी से इसे लड़ाई से विरक्ति हो गयी। उन दिनों मांस खाने की प्रवृत्ति लोगों की अत्यधिक बढ़ी चढ़ी थी। राजाओं के यहाँ प्रतिदिन सहस्रों जीवो की केवल भोजन के लिये हिंसा की जाती थी। यज्ञ यागों के नाम पर लाखों जीवों की बलि चढ़ाई जाती थी। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ। ये लोग अहिंसा पर ही अत्यधिक बल देते थे। वैसे बौद्धधर्मी भी मांस खाने को बहुत बुरा नहीं समझते थे। बौद्ध भिक्षु भिक्षा में मिले मांस को खा भी लेते थे किन्तु स्वयं किसी जीव की हिंसा नहीं करते थे। पहिले छोटे छोटे राजाओं ने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया। यद्यपि यह विशुद्ध भारतीय ही धर्म था, किन्तु नया नया होने से यह देश व्यापी नहीं हुआ था। भारतवर्ष में यह पहिला ही धर्म था, जो एक ही आचार्य की बात मानने को विवश करता था। वैदिक धर्म में अनेकों ऋषि मुनि तथा आचार्य थे। बहुतों के भिन्न भिन्न भी मत थे। एक आचार्य या ऋषि का मत दूसरे आचार्य से सर्वथा भिन्न होने पर भी वेद उन सब मे एकता करता था। उसमें अहिंसा आदि की सीमित व्याख्या न होकर व्यापक व्याख्या थी। जो जितना ही बुद्धिमान होता वह उन वाक्यों से अपनी बुद्धि के अनुसार वैसा ही अर्थ निकाल लेता और दूसरे आचार्यों के वाक्यों का समन्वय भी कर देता। इससे बौद्धिक दासता नहीं थी। सांप्रदायिक संकुचितता नहीं थी। अनेकता में एकता विराजमान थी बौद्धधर्म ने मानव प्रकृति के विरुद्ध सबको एक आचार्य की बात मानने को विवश किया और अहिंसा आदि की व्याख्या सीमित कर दी। फिर भी भारत में रहने से इस पर भारतीयता की छाप थी।

इसमें सहिष्णुता थी। विदेशों में जाकर जब यही बौद्धधर्म इसाई और मुहम्मदी धर्म के नाम से प्रचलित हुआ। तो इसमें असहिष्णुता बढ़ गयी। ईसाई धर्म बौद्धधर्म का ही रूपान्तर है। उसमें बुद्ध के वचनों पर विश्वास करने के स्थान में ईसा के वचनों पर विश्वास करने की बात कही गयी है। मुहम्मदी धर्म मुहम्मद साहब तथा अन्यान्य पैगम्बरों (आचार्यों) के वचन माने गये हैं, जिन्हें मुहम्मद साहब ने बताया है, इस धर्म के अनुयायी तो इतने अधिक असहिष्णु हुए कि अपने से विरुद्ध विचार रखने वालों को अपना शत्रु (काफिर) ही मानने लगे और जहाँ भी ये गये पशुबल का प्रयोग करके दूसरे धर्म वालों के उपासना गृह नष्ट किये उनका बलपूर्वक धर्म परिवर्तन किया और उनके साथ पशुओं से भी गया बीता व्यवहार किया। इस धर्म के अनुयायियों ने अपनी असहिष्णुता से इतिहास को कलंकित कर दिया।

बौद्धधर्म ने कभी किसी के साथ बौद्ध बनने को अन्याय या अत्याचार नहीं किया। खड्ग के बल से न किसी को बौद्ध बनाया और न किसी के उपासना गृहों को नष्ट किया। अशोक ने स्थान स्थान पर बौद्ध भिक्षुओं के लिये संघाराम बनवाये। धर्मशालायें औषधालय तथा पाठशालाओं की स्थापना की। अपने सम्पूर्ण राज्य में जीव हिंसा कम से कम होने दी। मांस खाने की मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसे सर्वथा बंद कर देना असम्भव है। फिर भी उसने मांस भक्षण को बहुत अधिक सीमित बना दिया। उसने आज्ञा प्रसारित कर दी कि यज्ञयाग के लिये कभी किसी पशु को न मारा जाय। पशु पक्षियों की गर्भिणी मातायें न मारी जायँ, किसी के बच्चे न मारे जायँ। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या पूर्णिमा तथा अन्यान्य पर्वों पर कोई जीव हिंसा न की जाय इन दिनों में कोई मांस न खाय।

सम्राट् अशोक यद्यपि बौद्ध हो गया था फिर भी वह भिक्षुकों के समान ही ब्राह्मणों का भी सम्मान करता ब्राह्मण और भिक्षुओं को समान ही दान देता। उसने संसार में बड़ा नाम पैदा किया। इसके अनंतर इसका पुत्र सुयशा (कुनाल) राजा हुआ उसने आठ वर्ष ही राज्य किया।

सुयशा का पुत्र सङ्गत हुआ। सङ्गत का शालिशूक और शालिशूक का पुत्र सोमशर्मा हुआ। सोमशर्मा का पुत्र शतधन्वा और उसका बृहद्रथ पुत्र हुआ। बृहद्रथ इस मौर्यवंश का अंतिम राजा हुआ। मौर्यवंश के राजाओं ने १३० वर्ष तक राज्य किया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी मौर्यवंश के अनन्तर किस वंश का इस भारतभूमि पर राज्य हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज! मौर्यवंश के अनन्तर शुङ्गवंश का राज्य हुआ। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सत धन्वा सुत भयो सोम शर्मा को नामी।
भये वृहद् रथ तासु तनय अति सरल अकामी॥
अंतिम राजा भये मौर्य कुल के ये नर पति।
सेनापति छल करयो भूप की कीन्हीं दुरगति॥
पुष्यमित्र सेना अधिप, राज्य लालची अति भयो।
करिकें बध भूपाल को, स्वयं भूप खल बनि गयो॥

—:०:—

शुङ्ग कण्व तथा अन्ध्र जातीयनृपतिगण

(१३४०)

समां भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात्सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

अग्निमित्र सुत तासु सुज्येष्ठ हु ताको सुतवर।
भये फेरि वसुमित्र भद्रकहु पुनि पुलिन्द नृप॥
सुत पुलिंद के घोष घोष के वज्रमित्र सुत।
भये भागवत तासु देवभूती तिनि श्रीयुत॥
देवभूति कूँ मारिकें, वासुदेव भूपति भयो।
तासु पुत्र भूमित्र तिनि, नारायण नृप ह्वै गयो॥

जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी सदा धर्म रक्षा किया करता है। जो धर्म का छोड़कर राजाओं और विधानों द्वारा रक्षा की आशा करता है, उसे पछताना पड़ता है। धर्म का सम्ब-

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—'हे कुरुकुलोत्पन्न राजन्! मौर्य वंशीय राजागण एक सौ तीस वर्ष राज्य करेंगे। फिर शुङ्ग वंश पुष्प मित्र का अग्नि मित्र होगा और उसके सुज्येष्ठ नामक पुत्र होगा।"

न्ध हृदय से है। जिसे हम अधर्म समझते हैं उसे शक्ति भर अवसर पाने पर एकान्त में भी न करेंगे। हमारा हृदय हमें सर्वदा सचेत करता रहेगा, कि अधम है। किन्तु जो राजकाय विधान है, जो हमारे ऊपर बलपूर्वक लादा गया है उसे हम केवल राजाज्ञा मानकर ही पालन करेंगे। अवसर पाने पर उसे भग कर सकते हैं, एकान्त पाकर ताड सकते हैं।

पहिले जब हमारे देश में धर्म का प्रचार था, तब राजकुलों की रक्षा उसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार देव मूर्तियों की रक्षा की जाती है। राजवंश का कहीं भी कोई किसी दशा में होगा प्रजा उसका देववत् पालन करती थी। इसी से राजकुल अक्षुण्ण बने रहते थे। लाखों वर्ष तक एक ही वंश परम्परागत राज्य सिंहासन पर आसीन रहता था। जब से अधर्म का प्राबल्य हुआ, राज्यकुलों में भी अधर्म का प्रवेश हो गया। राजा भी सर्व साधारण पुरुषों की भाँति हो गये और सभी लोग राज्य-लोलुप हो गये, तो वंश परम्परागत मर्यादा छिन्न भिन्न हो गयी। अब धर्माधिकार की तो बात रही नहीं। जिस जाति के भी बली को अवसर मिला वही राजा को मारकर स्वय राजा बन बैठा। पहिले राज्यपद प्रतिष्ठित कुल परम्परागत जन्म सिद्ध स्वत्व माना जाता था। अधर्म की वृद्धि के कारण राज्य को अब एक सुख की वस्तु मानी जाने लगी। जिसकी लाठी उसी की भैंस, वाली कहावत चरितार्थ होने लगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस किसी प्रकार मौर्यवंश के दस राजाओं ने परम्परागत राज्य किया। अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था अतः बौद्धधर्म अब इस देश का राज्य धर्म बन गया। बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में राज सत्ता भी आ गयी। बौद्धों के संघारामों में अगणित धन आने लगा। बड़े बड़े घरों की कुमारियाँ बौद्ध भिक्षुणी बनके संघारामों में रहने लगीं।

राजा भी बौद्ध भिक्षुओं से डरने लगे। भिक्षुओं का इतना अधिकार बढ़ गया वे चाहें जिस राजा को पदच्युत कर दें, चाहें जिसे सिंहासन पर बिठा दें। युवक और युवती लड़कियाँ भिक्षु और भिक्षुणी बनने लगे। उन्हें संघारामों में समस्त सुविधायें मिलने लगीं। भिक्षुओं के बड़े बड़े महन्त धन सम्पत्ति और प्रभुत्व आने से विलासी बन गये। उन्हें जिसको भी कन्या सुन्दरी लगती उसे ही भिक्षुणी बनाने को विवश करते और अनेकों उपायों से उसे भिक्षुणी बनाकर सघारामों में रखते। कहना चाहिये कि ये त्याग वैराग्य के मठ अब काल क्रम से भोग विलास के अड्डे बन गये जनता में बौद्ध धर्म के प्रति जो उसके त्याग वैराग्य के कारण आस्था आई थी वह उठ गयी। लोग मन ही मन बौद्ध भिक्षुओं से घृणा करने लगे, किन्तु खुलकर विरोध नहीं कर सकते थे, कारण कि बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में सभी शक्ति थी। कुछ दिनों के पश्चात् खुलकर भी विरोध होने लगा।

मौर्यवश का अंतिम राजा बृहद्रथ हुआ। वह अल्पवीर्य था। उसके आचरण क कारण प्रजा असन्तुष्ट थी। प्रजा जब किसी जाति के किसी विशेष धर्म के राज्यवंश से असन्तुष्ट हो जाती है, तब सबकी भावना ऐसी हो जाती है, कि इस जाति या इस धर्म का शासन नष्ट हो जाय, दूसरा कोई नया शासक आ जाय। जैसे विद्यार्थी राजकीय चटसारों में पढते हैं कोई अध्यापक उन्हें बहुत मारता पीटता है, तो वे चाहते हैं कोई नया अध्यापक आ जाय। नया आता है तो वे कुछ दिन प्रसन्न होते हैं, जब वह भी मारने लगता है, तब सोचते हैं–इससे तो वही अच्छा था अब कोई दूसरा नया आवे। असन्तोष में कभी शान्ति नहीं।

बृहद्रथ मौर्य से प्रजा मन ही मन असन्तुष्ट थी। उसका

एक शुङ्ग वंशी पुष्यमित्र नामक प्रधान सेनापति था। वह बड़ा ही शूर वीर बुद्धिमान और राजलोलुप था। प्रजा को राजा के विरुद्ध देखकर एक दिन अवसर पाकर वह राजा को मरवा कर स्वयं राजा बन बैठा। लोगों को उन दिनों बौद्ध भिक्षुओं की विलासिता के कारण बौद्ध धर्म से घृणा थी, अतः उसने बौद्ध धर्म का विरोध करना आरम्भ किया। उसने एक बहुत बड़ी नयी बात की जिससे वह बहुत प्रसिद्ध हो गया था।

अशोक के समय से ऐसा नियम था कि कोई यज्ञों मे पशु बलि नहीं दे सकता था। बौद्ध भिक्षु जब विलासी हो गये, तब स्वयं तो मांस खाते थे और उसके लिये दूसरो से पशुहिंसा भी कराते थे। किन्तु नियमानुसार यज्ञो मे पशुबलि नहीं दी जा सकती थी। इस नये राजा पुष्यमित्र ने बहुत दिनों से बंद हुए अश्वमेध यज्ञ को फिर से कराया। उसमें उसने यथेष्ट दान धर्म किया सुवर्ण, धन रत्न लुटाये, लाखो गौएँ दान मे दीं। बौद्ध धर्म तब अवनति की ओर जा रहा था ब्राह्मण धर्म का फिर अभ्युदय हुआ। पुष्यमित्र का यश चारो ओर फैल गया।

पुष्यमित्र के पश्चात् उसका पुत्र अग्निमित्र राजा हुआ। अग्निमित्र के पश्चात् उसका पुत्र सुज्येष्ठ सिंहासनारूढ़ हुआ। ये चार भाई थे इनसे छोटे वसुमित्र, भद्रक और पुलिन्द ये भी क्रमशः राजा हुए। पुलिन्द का पुत्र घोष, घोष का पुत्र वज्रमित्र, वज्रमित्र का पुत्र भागवत हुआ। और भागवत का पुत्र देवभूति हुआ।

देवभूति ही शुङ्ग वंशीय राजाओं मे से सबसे अन्तिम राजा हुआ। वह अत्यन्त ही कामी और स्त्री लम्पट था। निर्वीर्य होने से प्रजा इससे असन्तुष्ट थी और अत्यंत कामी होने से यह अन्याय भी करता था। ऐसा निर्वीय राज कै दिन राज्य कर सकता है। इसका प्रधान मंत्री वसुदेव बड़ा ही बुद्धिमान था।

उसका जन्म कण्व वंश में हुआ था। उसने जब राजा को अयोग्य देखा तो उसका वध कराके स्वयं ही राजा बन बैठा। वसुदेव के पश्चात् उसका पुत्र भूमित्र राजा हुआ, फिर भूमित्र का पुत्र नारायण तदनन्तर नारायण का पुत्र सुशर्मा राजा हुआ। पुष्यमित्र से लेकर सुशर्मा तक ये जितने शुङ्ग और कण्व वंशी राजा हुए ये सब वैदिक धर्मावलम्बी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णुता नहीं दिखायी, फिर भी बौद्ध धर्म में विलासिता रूपी घुन लग गया था उससे वह जर्जरित हो गया था।

कण्ववंशी सुशर्मा का एक शूद्र जाति का भृत्य था, वह अत्यंत ही दुष्ट अन्ध्र जातीय था। किन्तु था बड़ा ही बुद्धिमान तथा राज्यलोलुप। अवसर पाकर उसने सुशर्मा को मार डाला और स्वयं ही राजा बन गया। उसके कोई सन्तान नहीं थी अतः उसका भाई कृष्ण पृथिवीपति हुआ। कृष्ण का पुत्र श्री शान्तकर्ण बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसका पौर्ण माम हुआ। इसके अनतर क्रमशः इतने राजा हुए लम्बोदर, चिबिलक, मेघस्वाति, अटमान, अनिष्टकर्मा हालेय, तलक, पुरोपभीरु, सुनन्दन और चकोर।

चकोर के नौ पुत्र हुए। क्रमशः ये नौऊ राजा हुए। इनमें नौवाँ शिवस्वाति हुआ शिवस्वाति के गोतमी पुत्र शातकर्णी हुआ। यह बड़ा प्रतापशाली राजा हुआ।

जिन दिनों वहाँ आन्ध्र जाति के राजाओं का प्राबल्य था तब तक दूसरे देशों की शक आदि जातियाँ भी बलवान् बन गयी थीं उन्होंने भी इस पुण्य भूमि भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था, किन्तु उनका प्रभाव अधिक नहीं था। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में यवन देश (ग्रीक) के राजा बलवान् हो गये थे और उन्होंने भारतवर्ष पर चढ़ाई की और अपना राज्य भी स्थापित किया, किन्तु पीछे उसे पराजित होना पड़ा। पीछे सेल्यू-

कस ने भी चढाई की अन्त मे उसे भी हारना पडा और उसने अपने जीते हुए काबुल, हिरात, कंदहार और बलूचिस्तान चन्द्रगुप्त को भेंट किये और अपनी कन्या का विवाह भी उसके साथ कर दिया।

इसके अनंतर जिन शकों को महाराज सगर ने वैदिक धर्म से बहिष्कृत कर दिया था और जो भारतवर्ष छोडकर एशिया के अन्यान्य देशो में जा बसे थे और ब्राह्मणों से संसर्ग न होने से जो वृषल हो गये थे उनमे बौद्ध धर्म के भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। वे सबके सब बौद्ध हो गये थे। जब वे लोग बली हुए तो मध्य एशिया से दिग्विजय करने को निकले उन्होंने ईरान अफगानिस्तान आदि को जीतकर भारतवर्ष मे प्रवेश किया। तथा पचनद तथा व्रज के आस पास अपने छोटे छोटे राज्य भी स्थापित किये। जो कुछ दिनों मे नष्ट हो गये, किन्तु राजपूताना और मालवे मे इनके छोटे छोटे राज्य स्थायी हो गये। ये शक राजा भारतवर्ष से ही निकलकर बाहर गये थे। भारतवर्ष में आकर ये ऐसे घुलमिल गये कि इनका पृथक् अस्तित्व रहा ही नहीं। कुछ बौद्ध हो गये, कुछ ने वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया और यहाँ के लोगों मे वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगे। पीछे तो ये राजपूतों मे मिल ही गये। ये क्षत्रप और महाक्षत्रप के नाम से विख्यात हुए। इसी प्रकार मध्य एशिया (तुर्किस्तान) से कुशान वंशी भी लोग आये और कुछ स्थानो पर उनका भी अधिकार हुआ।

क्षत्रपों में नहपान ने दक्षिण तथा गुजरात पर अपना अधिकार जमा लिया था। आंध्र वंश के गौतमी पुत्र शातकर्णी ने नहपान को परास्त करके उसका बहुत सा राज्य ले लिया। इसके अनंतर २०। २१ और भी क्षत्रप महाक्षत्रप राजा हुए किन्तु वे साधारण ही राजा थे।

गौमती पुत्र का पुत्र पुरीमान् हुआ। तदनंतर क्रम से मेदःशिरा, शिवस्कन्द, यज्ञ श्री, विजय चन्द्रविज्ञ और मलोमधि ये राजा हुए। इस प्रकार ये अन्ध्रवंशीय तीस राजागण चार सौ छप्पन वर्ष तक इस पृथिवी का शासन करते रहे।

भारतवर्ष मे पहिले वर्णाश्रमी निवास करते थे कुछ वनों में रहने वाले कोल भील निषाद आदि भी थे। यहाँ के बहिष्कृत होने के कारण या किसी अन्य कारण से बहुत से आर्य एशिया के अन्य देशों मे चले गये। वर्णाश्रमियों से संसर्ग न होनेके कारण वे व्रात्य हो गये और वे अनार्यवत् माने जाने लगे। वे अनार्यों में मिल जुल गये किन्तु उनमें भारतीय संस्कार तो विद्यमान ही थे। जब बौद्ध धर्म का द्वीप द्वीपान्तरों मे प्रचार और प्रसार हुआ तो वे सब बौद्ध धर्मावलम्बी बन गये। तब तक ईसाइ या मुहम्मदी धर्म का तो जन्म भी नहीं हुआ था। किरात, हूण, पुलिंद, पुल्कस आभीर, कंक, यवन, और खश ये जातियाँ मुख्य थीं ये वर्णाश्रम धर्म से बहिष्कृत थीं। कुछ कुछ समय के अनंतर ये सब जातियाँ भारत को विजय करने आने लगीं। जो भारतवर्ष का सम्राट होता वही सब से बडा महाराजा माना जाता। इसलिये सब जातियों में भारतवर्ष को विजय करने की होड़ सी लग गयी।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! जब देश मे अन्ध्र वंश का पतन हुआ तो फिर देश मे आभीरो का आधिपत्य हुआ जिनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुत्र सुशर्मा तासु चार ये कएव वश नृप।
फेरि अन्ध्र बलि बन्या सुशर्मा मारि मही घिप ॥
भ्राता बलि को कृष्ण भयो नृप अतिशय बलयुत।
तासु पुत्र श्री शान्तकर्ण तिनि पौर्णमास सुत ॥
उचित भूपनि अन्त में, भयो गोमती पुत्र नृप।
भयो सलोमधि नवम पुनि, तीस अन्ध्रवंशी अधिप ॥

—:o::—

आभीर तथा गर्दभी वंश

(१३४१)

सप्ताभीराआनभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः।
कङ्का षोडशभूपाला भविष्यन्त्यति लोलुपाः॥*

(श्री भा० १२ स्क० १ अ० २६, श्लो०)

छप्पय

भये सात आभीर कुशन वशी कहलाये।
करत दिग्विजय यहाँ देश देशनि कूँ आये॥
इनमें नृप वाझेष्क कनिष्कहु भये वीरवर।
नृप वासिष्क हुविष्क वासुदेव हु सुयशस्कर॥
फेरि भये नृप गर्दभी, गुप्तवश के नाम तें।
अति प्रसिद्ध भूपति भये, प्रजा हितैषी काम तें॥

धर्म की जब हानि हो जाती है, तब मनुष्य धर्मत अपने अधिकार को प्राप्त नहीं करते, अपितु अधर्म के द्वारा जिसका बल अधिक होता है वही अधिकारारूढ हो जाता है। भारतवर्ष में

---

* श्री शुकदेव जी कहते हैं—"राजन्! इसके पश्चात् अवभूतिपुरी के निवासी सात आभीर राजा होंगे दश गर्दभी और सोलह अत्यन्त लोलुप कङ्क जातीय नरेश होंगे।"

देशी विदेशी का प्रश्न नहीं होता था। यहाँ धर्म की प्रधानता थी। धर्म के विषय में संसार में भारतवर्ष ही गुरु माना जाता था। दूसरे देशों में ऐसा विश्वास था, कि जो लोग यहाँ धर्माचरण करेंगे, उनका मरकर भारतवर्ष में जन्म होगा। यदि कोई दूसरे देश का विजयी यहाँ आता था, तो उसका सघर्ष साधारण जनता से नहीं होता था। राजाओं के साथ उनका युद्ध होता था। राजाओं को उसने जीत लिया, तो साधारण प्रजाजनों को उसे राजा मानने में फिर कोई आपत्ति न होती थी। वह भी अपने को भारतवर्ष का राजा मानकर अत्यधिक गौरव का अनुभव करता था और जिस धर्म की प्रधानता होती थी उसे ही स्वीकार कर लेता और उसका आचरण भी करने लगता। पहिले जो विदेशी विजेता यहाँ आते थे वे बौद्ध धर्मावलम्बी होते थे। जब बौद्ध धर्म का क्षय होने लगा और पुनः वैदिक धर्म का अभ्युदय आरम्भ हुआ। राजा गण शैव शाक्त तथा वैष्णव होने लगे तब विदेशी राजा आकर भी उन्हीं धर्मों का आचरण करने लगे और वे हममें दूध पानी की भाँति ऐसे घुलमिल गये कि अब उनकी पृथक् सत्ता अवशिष्ट ही नहीं रही। जैसे नदियाँ समुद्र जाकर अपना नाम रूप खोकर तदाकार हो जाती है, वैसे ही विदेशी जातियाँ भारतीय आर्यों में तदाकार हो गयी। उस समय हमारी पाचन शक्ति प्रबल थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आभीर भारतवर्ष में दो प्रकार के होते थे। एक तो आभीर कोल भीलों की भाँति जगली जाति थी, जो जंगलों में रहते और कोल भीलों की भाँति निर्वाह करते। इनको पंचम वर्ग का कहा है। दूसरे वे लोग भी आभीर कहाते जो वनों के राजा होते गौओं का पालन करते। गो पालन के कारण उनकी गणना वैश्यों में की जाती किन्तु शासन हाथ में रहने से उनमें क्षात्रधर्म भी विद्यमान् रहता और वे बली भी

होते। उनकी लड़कियों से क्षत्रिय विवाह भी करते। जैसे नन्दजी थे। ये क्षत्रिय और वैश्य दोनों ही वर्णों का धर्म पालन करते। विदेशों से जो कुशनवंशी वीर आये वे प्रथम वर्णाश्रम से रहित होने के कारण आभीरा पंचमस्मृताः" इस न्याय से पचम वर्ण अर्थात् म्लेच्छ कहे जाने लगे। जब उनके हाथ में राजसत्ता आ गयी और वे भक्तिपूर्वक शैव या वैष्णव हो गये, उनके पुत्र राजकुमार हो गये तो शनैः शनैः वे राजपूतों में ऐसे मिलजुल गये कि उनमे देशी विदेशी का भेदभाव नहीं रहा। कुछ दिनों तक नामों मे विदेशीपन झलकता था। जैसे पहिला आभीर राजा वाफेस्क हुआ। यह नाम विदेशी है दूसरा इसका पुत्र कनिष्क राजा हुआ। इसने प्रायः सम्पूर्ण भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। यह राजा शैव था। इसने अपनी मुद्राओं पर भी शिव की मूर्ति प्रसिद्ध की बौद्ध भिक्षुओं का भी वह आदर करता था और उनके कार्यों मे भी उदारता से सहयोग देता था।

इसका पुत्र वासिष्क हुआ और उसका हुविष्क या हविष्क इन चार राजाओं के नामों में कुछ विदेशीपन है। किन्तु पंचम वासुदेव यह विशुद्ध भारतीय नाम है। यह शैव से वैष्णव हो गया और वैष्णव धर्म की इसने उन्नति की। इसके पीछे भी दो और प्रतापी राजा हुए। फिर शनैः शनैः इनका प्रभाव घटने लगा और तदनन्तर गुप्तवंश या गर्दभी वंश का अधिकार हुआ।

आभीर राजाओं का कोई चन्द्रवंशी क्षत्रिय प्रभावशाली मंत्री था। उसकी वैश्य पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उत्तम वर्ण के पुरुष से अपने से नीचे वर्ण की स्त्री में जो सन्तान होती है। उसकी जाति मानने के स्मृतियों में दो नियम हैं। या तो वह सन्तान माता के वर्ण की मानी जाती है अथवा माता से श्रेष्ठ और पिता से कनिष्ठ उसकी एक तीसरी जाति होती है। वंश

उसका पिताका ही माना जाता है। जैसे विदुर जी यद्यपि दासी के पुत्र थे फिर भी वैचित्र्य वीर्य कहलाते थे। इस प्रकार इन श्रीगुप्त ने माता के कारण अपनी गुप्त उपाधि धारण की और पिता के कारण ये चन्द्रवंशी कहलाये। गर्दभी इनका बैंक या प्राचीन स्थान का नाम होगा। ये राजा विशुद्ध भारतीय थे, अतः इन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार की प्रतिज्ञा की इसलिये सर्व साधारण लोगों ने इनका आदर किया। इस वंश के राजाओं ने विपुल धन व्यय करके अश्वमेध यज्ञ भी किये और दान धर्म भी यथेष्ट किया। पहिले ये महाराज कहलाते थे पीछे से महाराजाधिराज हुए और इनका प्रताप सर्वत्र छा गया। गुप्त का पुत्र घटोत्कच हुआ घटोत्कच का पुत्र चन्द्रगुप्त हुआ। लिच्छिवि वंशी क्षत्रियों में इसका विवाह हुआ। इसकी रानी का नाम कुमारदेवी था उसी के गर्भ से समुद्रगुप्त का जन्म हुआ। समुद्रगुप्त बड़ा ही प्रतापशाली राजा हुआ तीर्थराज प्रयाग के किले में अक्षयवट के निकट जो अशोक की लाट है उसपर अब तक इसके दिग्विजय की बात खुदी हुई है। इसने अनेकों राजाओं को जीता था प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में जो समुद्रकूप है, इसका भी इसी ने पुनर्निर्माण कराया था। इस प्रतापी राजा ने कलियुग में चिरकाल से न होने वाला अश्वमेध यज्ञ कराया था।

इसका पुत्र चन्द्रगुप्त (दूसरा) हुआ। यह वैष्णव था। इन्द्र प्रस्थ में अभी तक इसकी गड़वाई हुई लोहे की लाट विद्यमान है। इसके राज्य में प्रजा अत्यंत सुखी थी। इसका पुत्र कुमारगुप्त हुआ इसका पुत्र स्कंदगुप्त और स्कंदगुप्त का पुत्र कुमार गुप्त (दूसरा) हुआ। कुमारगुप्त का बुधगुप्त और बुधगुप्त का पुत्र भानुगुप्त हुआ। इस प्रकार इन दस राजाओं ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक लगभग विक्रम की छटी शताब्दी के अन्त तक राज्य

किया। पीछे शक प्रबल हो गये और उनही से मिलते जुलते कंक जातीय राजा हुए।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब मैं आप से कंक यवन तुरुष्क और गुरुण्ड वंश के राजाओं के सम्बन्ध में अत्यंत सक्षेप में कहूँगा।"

छप्पय

गुप्त घटोत्कच चन्द्रगुप्त ये भूपति अनुपम।
नृप समुद्र पुनि चन्द्रगुप्त दूसर ये पचम॥
गुप्तकुमार नृपाल भये इस्कंद सातवें।
पुनि कुमार बुध भानु गुप्त अष्ट नवमें दशवें॥
फेरि गदभी वंश नहिँ, रह्यो कक भूपति भये।
राजवंश के पुत्र मिलि, सब एकत्रित ह्वै गये॥

—::::—

॥ श्रीहरि ॥

[व्रजभाषा मे भक्ति भाव पूर्ण, नित्य पाठ के योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवतचरित

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओं के नित्य पाठ के अनुपम ग्रन्थ हैं। हिन्दी भाषा मे रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठ के लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत-प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमी को 'भागवत चरित' ने पूरा कर दिया। यह अनुपम ग्रन्थ व्रजभाषा का छप्पय छन्दो मे लिखा गया है। बीच बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रम से सात भागामे विभक्त हैं, पाक्षिक तथा मासिक पाठ के भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवत की समस्त कथाओं को सरल,सरस तथा प्राजल छन्दोंमें गाया गया है। आज से लगभग डेढ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ की तीन सहस्र प्रतियाँ छपी थीं, जो थोडे ही दिनों में हाथों हाथ निकल गयी। सैकडों नर नारी इसका नित्य नियम से पाठ करते हैं, बहुत से कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुत से पडित इसी के आधार से भागवत सप्ताह बाँचते हैं। लगभग नौ सौ पृष्ठ का पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागज पर छपी है। सैकडों सादे एकरंगे चित्र तथा ५-६ बहुरंगे चित्र हैं। कपडे की टिकाऊ बढिया जिल्द और उस पर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजार मे ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज हीएक पुस्तक मगाकर अपने लोक परलोक को सुधार ले। न्योछावर केवल ५।) सवापाँच रुपये, डाकव्यय पृथक्।

पता —संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

॥ श्री हरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी की कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँसे मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डों में; ६० खण्ड छप चुके हैं) प्रति खण्डका मूल्य १।) , दस आना डाकव्यय पृथक्। १६।।।) में एक वर्ष के १२ खण्ड डाकव्यय रजिष्ट्री सहित।

२—श्री भागवत चरित—लगभग १००० पृष्ठकी, सजिल्द मूल्य ५।)

३—बदरीनाथदर्शन—बदरीनाथजीपर खोजपूर्ण महाग्रन्थ, मूल्य ५)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३४५ मू० २।।।)

५—मतवाली मीरा—भक्तिका सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम सङ्कीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्धमें उठने वाली तर्कों का युक्ति पूर्ण विवेचन। मूल्य ।।)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजीके जीवनकी झाँकी (नाटक) मूल्य ।।)

८—भागवती कथाकी बानगी—(प्रारंभके तथा अन्य खण्डोंके कुछ पृष्ठोंकी बानगी) पृष्ठ संख्या १२५ , मूल्य ।)

९—शोक शान्ति—शोक शान्ति करने वाला रोचक पत्र (पृ० ६४) इसे पढ़कर अपने शोक संतप्त परिवारको धैर्य बँधाइये। मूल्य ।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ १२० ; मूल्य ।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं ? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७५ मूल्य ।-) पाँच आना

१२—प्रयाग माहात्म्य—प्रयाग के सभी तीर्थों का वर्णन; मूल्य -)

१३—भागवत चरित की बानगी—मूल्य ।)

१४—राघवेन्द्रचरित-(भागवतचरितसे ही पृथक् छापा गया है) मूल्य ।-

१५—प्रभुपूजा पद्धति—मूल्य ≈)॥

१६—चैतन्य चरितावली (प्रथम) १)

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।